विश्व हिन्दी दर्शन



जुलाई-सितम्बर, 1979

त्रैमासिक

विश्व हिन्दी दर्शन

हिन्दी की सर्वप्रथम विश्व पत्रिका



वर्ष 1, अंक 3
जुलाई-सितम्बर, 1979



संपादक
लल्लनप्रसाद व्यास



प्रकाशक
लल्लनप्रसाद व्यास
विश्व हिन्दी प्रतिष्ठान के सहयोग से
सी-13, प्रेस एन्क्लेव, साकेत, नयी दिल्ली-110017
फोन : 669776

मूल्य : 4 रुपये





मुद्रक
रूपक प्रिंटर्स, के-17, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

VISHWA HINDI DARSHAN
JULY-SEPTEMBER 1979





क्रम



भारतीय संस्कृति की एकात्मता

डॉ० पी० जयरामन

□□

भौगोलिक दृष्टि से विभिन्न नद-नदियों, उत्तुंग पर्वतों तथा वन-वनांतरों से भारत अनेक खण्डों में विभाजित अवश्य है, किन्तु यह विभाजन केवल शरीर से है, न कि आत्मा से। राष्ट्र की आत्मा उसकी संस्कृति होती है; संस्कृति बाह्य आचार-व्यवहारों, या वेश-भूषा से नहीं, परंतु महान प्रवृत्तियों, उदात्त भावनाओं तथा विचारधाराओं से संबंधित है। इस दृष्टि से समग्र भारत की आत्मा अर्थात् संस्कृति एक है। जैसे तमिल के कवि सुब्रह्मण्य भारती कहते हैं :

शेप्पु मोळि पदिनेट्टुडैयाळ्
एनिल् चिन्तनै ओन्रुडैयाळ्

अर्थात् भारत माँ अठारह भाषाएँ बोलने वाली अवश्य है; किन्तु उनके द्वारा एक ही विचार अभिव्यक्त होता है। यही भारतीय संस्कृति की विशेषता है।

भारत के उत्तरी और दक्षिणी प्रदेशों में भारतीय संस्कृति की एकात्मता के अनेक मूर्त एवं अमूर्त प्रतिमान शतियों से विद्यमान हैं।

लगभग दो हजार वर्ष पहले संकलित किये गये तमिल काव्य पुरनानूरु में कवि पूंकुंटनार का मानवतावादी एवं विश्वीय स्नेहभाव इन पंक्तियों में मुखरित है :

यादुम ऊरे यावरुम केळिर

अर्थात् यह सारा विश्व हमारा है और सभी लोग हमारे बंधु हैं। यही तथ्य संस्कृत की इस उक्ति से हजारों सालों से गूँजता आ रहा है :

तवैवेति ममैवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

यह विश्वीय स्नेहभावना भारतीय संस्कृति की मौलिक विशेषता है जो भौतिक विषमताओं के बावजूद समग्र भारत के जनमानस में प्रतिष्ठित है :

'यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्'—की यह उदार चिन्तन-प्रक्रिया अखंड भारतीय संस्कृति का गौरव है।

भारत धर्मप्राण राष्ट्र है। दर्शन-चिंतन भारतीय मनीषियों की जन्मजात प्रवृत्ति है। उत्तर में सरस्वती के तट पर ज्ञान, जीवन-तत्त्व, मानव-दर्शन तथा आत्मा की अपरिमितता आदि तत्त्वों को मूल में लिये रहने वाले ज्ञानपुंज वेदों का संकलन हुआ था; उनके द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चतुर्विध पुरुषार्थों की उपलब्धि का दिशाबोध कराया गया है। यही कार्य तमिल वेद कहलानेवाले और दो हजार वर्ष पहले रचे गये तिरुक्कुरळ द्वारा भी संपन्न हुआ है। किन्तु तिरुक्कुरळ के रचयिता तिरुवळ्ळुवर की मान्यता यह है कि यदि कोई व्यक्ति धर्म, अर्थ

एवं काम की उचित मात्रा में और उपयुक्त प्रकार से उपलब्धि करे तो उसे सहज ही मोक्षप्राप्ति हो सकती है। यही कारण है कि उन्होंने अलग से मोक्ष का विवेचन नहीं किया है। कुरळ के प्रथम पद में भारतीय जीवन के सारभूत ईश्वरीय तत्त्व को संक्षेप में कहा गया है :

अकर मुदलेळुत्तेल्लाम आदि भगवन्
मुदट्रे उलगु।

अर्थात् जैसे सभी वर्णों का आदि अकार है, वैसे ही अखिल विश्व का आदि भगवान है। क्या यही तत्त्व गीता में भी गूंज नहीं उठता ?

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः
वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम्।

इसी तत्त्व को नौवीं शती के कृष्णभक्त तमिल कवि तिरुमंगै आळ्वार कहते हैं : 'मरैपल पोरुळा-गिय परमनिडम्,' अर्थात् भगवान वेदों के सार हैं।

इसी दार्शनिक परंपरा में भगवान या परब्रह्म की अनन्यता एवं अनुपमेयता का विवेचन करते हुए भारतीय मनीषी यही बताते आ रहे हैं कि ब्रह्मतत्त्व घट-घट में व्याप्त है, किन्तु जीव सांसारिक माया में पड़कर अपने सत्य स्वरूप को विस्मृत कर देता है। माया-यवनिका के आवरण से वह संसार में यंत्रवत् जीवन-यापन करता है। इस तथ्य को कठोपनिषद् इस प्रकार कहता है :

अंगुष्ठमात्रः पुरुषः मध्ये
आत्मनि तिष्ठति।

संत कवि कबीर भी कहते हैं :

घट घट में वह साईं रमता
कटुक वचन मत बोल रे।

इस संदर्भ में तमिल के आळ्वार संत नम्माळ्वार का कहना है :

इवैयन्रे नल्ल, इवैयन्रे तीय,
इवैयेन्रिवै अखिलमुम् .इवैयेल्लाम्
एन्नाल् अडैप्पु नीक्कोणादु
इरैयवने एन्नाल् शेयपलिदु एन ?

अर्थात् जीव घट-घट में व्याप्त ईश्वर के अंतर्यामी स्वरूप से अनभिज्ञ रहता है। वह यह भी नहीं जानता कि "मैं ब्रह्म का अंश हूँ।" अविद्या के कारण उसे यह मालूम नहीं होता कि "मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए।"

यह आध्यात्मिक चिंतन-पद्धति भारतीय संस्कृति की अपनी विशेषता है और यह विभिन्न भाषा-माध्यमों से भारत के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अभिव्यक्त हुई है।

इसी प्रकार विभिन्न भारतीय भाषाओं के साहित्य ने भारतीय संस्कृति की छाया में विकास किया और साथ ही अन्यान्य मताचार्यों द्वारा उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकात्मता सुरक्षित रखी गयी। भारतीय संस्कृति में भिन्न-भिन्न विचारों को अपने में पचा लेने की अभूत-पूर्व शक्ति है। वैदिक, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि पंथों की विचारधाराओं ने भारतीय संस्कृति के निर्माण में अमूल्य योग दिया है। इन सभी पंथों का प्रचार-प्रसार उत्तर और दक्षिण में समान रूप से हुआ है। जातक, त्रिपिटक, समयसार, सर्वार्थसिद्धि आदि बौद्ध-जैन कृतियों द्वारा इन पंथों के सिद्धान्तों का प्रचार जैसे उत्तर में हुआ, वैसे ही दक्षिण में भी हुआ। वस्तुतः बौद्धों और जैनों ने अनेक विहारों की स्थापना दक्षिण में की। वे अपने सिद्धांतों का प्रचार दक्षिणवासियों के बीच करते थे। इसके प्रमाणस्वरूप ईसा के पश्चात् दूसरी और चौथी शतियों के बीच तमिल

में रचित बौद्ध महाकाव्य शिलप्पधिकारम और मणिमेखलै तथा जैन काव्य जीवक चिन्तामणि का उल्लेख किया जा सकता है। शिलप्पधिकारम के एक स्थल पर इस बात का उल्लेख है कि नायक कोवलन चोल प्रदेश छोड़ विष्णु मंदिर एवं बौद्ध-जैन विहारों को पार कर पांड्य राज्य की ओर चल पड़ा। दक्षिण की कांची नगरी वैष्णवों शैवों, बौद्धों तथा जैनों का प्रमुख केन्द्र मानी जाती है। आज भी वहां इसके प्रमाण उपलब्ध हैं।

राम एवं कृष्ण की कथाएँ समस्त भारत में परिव्याप्त रहीं। रामायण और महाभारत का समादर सारे भारत में होता था। इन्होंने भी भारतीय चिन्तन-पद्धति की अनन्यता के निर्माण में योग दिया है। वालमीकि की रामायण, भवभूति का उत्तररामचरित, तुलसीदासकृत रामचरितमानस, कंबन की तमिल रामायण, कन्नड़ की पम्प रामायण, मलयालम की अध्यात्म रामायण, तेलुगु की रंगनाथ रामायण, भास्कर रामायण आदि इस तथ्य के साक्षी हैं। वास्तव में उत्तर का चिन्तन तुरन्त ही दक्षिण पहुँच जाता था और इसी प्रकार दक्षिण में उत्पन्न विचारों और चिंतन से उत्तर के विद्वानों को प्रेरणा मिलती थी।

भारत के दक्षिण में स्थित केरल में उत्पन्न शंकराचार्य ने सारे भारत में अद्वैत सिद्धांत का प्रचार कर तत्कालीन समस्त नास्तिक वादों को उखाड़ डाला। शांकर मत का ऐसा गंभीर प्रभाव उत्तर पर पड़ा कि आज भी बदरीनाथ के मंदिर में उसी नंबूदिरि ब्राह्मण कुल का व्यक्ति पुजारी के स्थान पर रहता है जिसमें शंकर जन्मे थे। शंकर जन्मे दक्षिण में और शारीरक भाष्य की रचना की। किन्तु उसपर हिमालय की तराई में स्थित मिथिला में वाचस्पति मिश्र ने 'भामती टीका' लिखी।

इसी प्रकार भक्तिधारा को लिया जाए। आर्यों की प्रकृतिपूजा और कर्मकांड के नीचे उनका भक्तिभाव दबा पड़ा रहा। ज्ञानप्रधान आर्यों की भक्ति को कोमल-भावप्रधान प्रवृत्तिमयी बनाया दक्षिण ने। मध्यकालीन भारत में जब सांस्कृतिक समन्वय की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तब दक्षिण ने भक्ति की स्निग्ध ज्योति लेकर उत्तर का मार्गदर्शन किया।

उत्तर भारत में ईसा की चौथी शती से लेकर छठी शती तक गुप्त साम्राज्य के उत्तम शासनकाल में वैष्णव भक्ति तथा भागवत धर्म का जो प्रचार हुआ उसकी सम्राट् हर्षवर्धन एवं उनके परवर्ती शासकों के समय में उपेक्षा होने लगी और भक्ति की वह धारा वहां सूखती गयी। उस समय दक्षिण में शैव भक्त कवि नायनमारों और वैष्णव भक्त कवि आळ्वारों के द्वारा वह भक्तिभावना पल्लवित और पुष्पित होने लगी। विशेष रूप से वैष्णव भक्ति की समर्पणमयी स्निग्ध भावधारा चौथी शती और नौवीं शती के बीच बारह आळ्वार कवियों की गीतात्मक रचनाओं द्वारा दक्षिण के जनमानस को आत्मविभोर करती रही। इस भावुकभक्तिभावना को दार्शनिक दृष्टि से चिन्तन की प्रक्रिया द्वारा भक्ति-आन्दोलन का स्वरूप प्रदान किया अनेक आचार्यों ने। उनमें प्रमुख थे नाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुज। इन आचार्यों ने उत्तर भारत की यात्राएँ कीं और वहाँ आळ्वारों के भक्तिसिद्धांतों का प्रचार किया। उन्होंने अपने सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के लिए संस्कृत में अनेक ग्रंथों तथा भाष्यों का प्रणयन किया। परिणामत: शरणागतिमूलक भक्ति की यह तरल धारा समस्त भारत के हृदय को आन्दोलित करने लगी। इसी वैष्णव भक्ति की धारा को आत्मसात् कर वल्लभ संप्रदाय, राधावल्लभ संप्रदाय, चैतन्य संप्रदाय, निम्बार्क संप्रदाय आदि कई भक्तिसंप्रदायों का उद्भव हुआ और तुलसीदास, सूरदास एवं अन्य अष्टछाप के कवि उत्तर में हुए तथा जनता के शुष्कप्राय मानस में भक्ति के माध्यम से आशा, विश्वास, जीवन की उपादेयता और शरणागति की महत्ता की चेतना जगायी। आळ्वारों और हिन्दी के भक्त कवियों की भावात्मक समानता क्या यह स्पष्ट नहीं करती कि उत्तर और दक्षिण

की वैचारिक सांस्कृतिकता आज के समाज के लिए अमूल्य धरोहर के रूप में उपलब्ध है ? उदाहरण के लिए दो पंक्तियां देखिए :

तमिल के कुलशेखराळ्वार कहते हैं :

एंगुम् पोय् करै काणादु, एरिकडल वाय् मीण्डेयुम्
वंगत्तिन् कूम्बेरुम् माप्परवै पोन्रेने ।

अर्थात् चारों ओर समुद्र ही समुद्र मिला; किनारा कहीं नहीं मिला; इससे निराश होकर बार-बार जहाज के खंभे पर ही लौटनेवाले पक्षी के समान, हे भगवन्, मैं भी आपकी शरण में आया हूँ। मेरे लिए अन्यत्र कोई सहारा नहीं है ।

उधर सूरदास का गीत है :

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै,
जैसे उड़ि जहाज को पंछी, फिरि जहाज पै आवै ।

यदि आळ्वार भक्तिन आंडाळ कहती हैं :

''प्रिय वियोग में मेरी हड्डियाँ गल गयी हैं । मेरे भाले के समान नेत्र कभी बंद नहीं होते । प्रिय के अभाव में नींद कैसे आये ? वियोग-दुःख के सागर में 'गोविन्द' नाम के वैद्य के बिना मैं अत्यंत व्याकुल हूँ'', तो कन्हैया की अन्यतम प्रियतमा मीराँ के ये उद्गार उल्लेखनीय हैं :

रमैया विन नींद न आवै,
नींद न आवै, विरह सतावै,
प्रेम की आँच ढुलावै,
निस दिन जोवाँ बाट मुरारी,
कब रो दरसण पावाँ,
मीरा रे हरि से मिलियाँ विण
तरस तरस जीया जावाँ ।

यह सरस भक्तिधारा उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक धरोहर है । इसे भारतीय जनता को प्रदान करने में इन भक्त कवियों के अतिरिक्त रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी आदि दक्षिणी आचार्यों, दक्षिण में जन्म लेकर उत्तर में पुष्टिमार्ग की स्थापना करनेवाले वल्लभ, रामानन्द, चैतन्य, श्रीहित हरिवंश, हरिदास आदि उत्तर भारतीय आचार्यों का अभूतपूर्व योग रहा'। इस सांस्कृतिक धरोहर को अपने-अपने क्षेत्र तक सीमित रखे बिना समस्त भारतीयों को प्रदान करने के उद्देश्य से ये आचार्य समग्र भारत की यात्रा करते थे। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि बंगाल को भक्तिरस से आप्लावित करने वाले गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य ने भारत के प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया और विशेष रूप से वे श्रीरंगम, कुंभकोणम, तंजौर जैसे तमिल प्रदेश के वैष्णव क्षेत्रों में भी गये । इस मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन ने सारे भारत को सांस्कृतिक एकात्मता की जो धरोहर प्रदान की है उसके निर्माण में महाराष्ट्र के एकनाथ, ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम, पंजाब के नानक, गुजरात के नरसी मेहता, कर्नाटक के पुरन्दरदास आदि संतों का भी प्रदेय महत्त्वपूर्ण है ।

भारतीय सामाजिक आचार-विचार भी संस्कृतिमूलक हैं । यहाँ की कलाएँ सांस्कृतिक गरिमा की प्रतीक हैं । उत्तर भारत में पर्व-अवसरों पर जैसे शहनाई का महत्त्व है वैसे ही दक्षिण में नादस्वरम् का । संगीत-क्षेत्र में कर्नाटक संगीत एवं हिन्दुस्तानी संगीत एक ही भाव-लय पर आधारित हैं । भले ही कालांतर में उनकी अनेक विधाएँ हो गयी हों, फिर भी भावना, कल्पना, लय, ताल, गति आदि की दृष्टि से उन दोनों की भूमिका एक है । चित्र, वास्तु आदि

कलाओं की भी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में अनेक निर्मितियाँ हमें धरोहर के रूप में उपलब्ध हैं। एक ओर खजुराहो और दूसरी ओर महाबलिपुरम; अन्यत्र अजंता और एलोरा की गुफ़ाएँ तथा मध्यप्रदेश के जोगीमारा की गुफा और उनमें विद्यमान असामान्य चित्र एवं शिल्प और साथ ही नागार्जुन कोंडा की शिल्प रचनाएँ, उभरे चित्रों से अलंकृत शिलाफलक आदि; इनके साथ ही तंजौर का बृहदीश्वर मंदिर, मदुरै का मीनाक्षी मंदिर, काशी का विश्वनाथ मंदिर, पुरी का जगन्नाथ मंदिर, कोणार्क का सूर्य मंदिर आदि अद्‌भुत कलासृष्टियों का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनकी शिल्प, वास्तु तथा चित्रकलाओं के माध्यम से सांस्कृतिक कलाकारों की उदात्त भाव-गरिमा आज तक भारतीय प्रांगण में गूँज रही है।

यदि समाज में प्रचलित पर्व-त्योहारों को लिया जाये तो वहाँ भी भारतीयों की सांस्कृतिक एकात्मता पायी जा सकती है। काश्मीर का वसंतोत्सव, ब्रजभूमि का दोलोत्सव, केरल का झूला उत्सव, सारे देश में मनाये जानेवाले उत्सव दशहरा, दिवाली, मकर संक्रांति, काम-दहन आदि समस्त भारतीयों की चिर सांस्कृतिकता के प्रमाण हैं, भले ही इन उत्सवों के मनाये जाने की प्रक्रिया में स्थानभेद के कारण थोड़ा-सा अंतर क्यों न दिखाई पड़े। ये उत्सव आनन्द, उल्लास, कर्मण्यता, कल्पना, ज्योति की कामना, लोककल्याण की भावना आदि तत्त्वों के प्रतीक हैं जो भारतीय संस्कृति के अमर तत्त्व हैं।

शतियों से भारतीय समाज की यह मान्यता रही है कि उत्तर की काशी की यात्रा के पश्चात् दक्षिण के रामेश्वरम की यात्रा करने के बाद ही यात्री पूर्णकाम हो सकता है। आज भी इस मान्यता में कोई अंतर नहीं आया है।

वस्तुत: भौतिक, मानसिक, साहित्यिक आदि अनेक परिप्रेक्ष्यों में उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकात्मता के ये प्रतिमान धरोहर के रूप में हमारे बीच आज भी विद्यमान हैं। इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण उत्तर और दक्षिण में शतियों से चली आनेवाली यह उक्ति है जिसमें से हिमांचल से उद्‌भूत गंगा से लेकर सुदूर दक्षिण की कावेरी तक व्याप्त भौगोलिक परिवेश में विकसित संस्कृतिप्राण जनमानस प्रतिध्वनित हो रहा है :

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती।
नर्मदे सिन्धु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥



सखि बनाम मित्र

कलकत्ता हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर शेरवानी डाटे, टोपी लगाये मंच पर मिले। नमस्कार होते ही निराला ने पूछा, ''कहिये, सखिजन को साथ में लाये कि उन्हें छोड़ अकेले आये?'' रत्नाकर चौंक पड़े और व्यंग्य किया, ''यह तो आप जानें। आप लखनऊ से आ रहे हैं।'' फिर 'सखि' शब्द के अर्थ पर विवादात्मक व्यंग्य चलता रहा। महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा जब आये तो उन्होंने बताया कि 'सखि' शब्द संस्कृत में मित्र के अर्थ में भी चलता है और बोले, ''निराला जी ने ठीक ही कहा।'' तब निराला ने कहा, ''रत्नाकर जी को ब्रज-भाषा के कारण गोपियों का भ्रम हो गया होगा।'' बड़ी देर तक ठहाका लगता रहा।



श्रद्धांजलि

कभी न बुझने वाली लौ : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

शंकरदयाल सिंह

□□

जिन आँखों ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी को देखा होगा, वे अच्छी तरह जानती हैं कि वे कभी न बुझने वाली एक लौ थे। चौड़ा माथा, भव्य ललाट, बिखरी आकृति, खिचड़ी बाल, होठों पर पान की लाली, मुँह पर सदा स्मितहास तथा बातों में सांस्कृतिक सरसता का एक निराला पुट। वे साहित्यकार से बड़े सांस्कृतिक चेतना के अग्रदूत थे और इससे भी बढ़कर एक ऐसे आम आदमी के प्रतीक जो भारत के गाँवों, खेतों, खलिहानों, मेड़ों और ढावों पर अनायास विचरा करता हो। उनके व्यक्तित्व में भारत के भिन्न-भिन्न कोनों का अद्भुत सम्मिश्रण था। शांतिनिकेतन के लालित्य ने बलिया के 'बलियाटिक' पने को पीछे ढकेल दिया था, लेकिन उनके साहित्य का मिला-जुला स्वर दृढ़ता और सौंदर्यबोध का युग्म था। तभी तो वे 'साहित्य का साथी' जैसा प्रारंभिक रचनाओं में भी उदात्तता के स्वर को भूल नहीं सके :

"वस्तुतः परिस्थितियों पर विजय पाने वाले मनुष्यों ने ही प्रत्येक युग में संसार को आगे बढ़ाया है। जातियों का इतिहास व्यक्तियों का इतिहास है। महापुरुष एक अपूर्ण शक्ति लेकर आते हैं और देश का नक्शा बदल देते हैं। क्रामवेल न होता तो इंग्लैण्ड का इतिहास और तरह से लिखा गया होता। नेपोलियन न हुआ होता तो फ्रांस की कहानी और ही तरह की होती। ऐसा देखा गया है कि एक-एक शक्तिशाली महापुरुष जाति को एक ख़ास दिशा में अग्रसर करते समय रास्ते में ही चल बसा और वह जाति अपने समस्त जातिगत तथा ऐतिहासिक परम्पराओं और अनुकूल पारिपार्श्विक परिस्थितियों के बावजूद उभय-विभ्रष्ट छिन्न मेघ-खण्ड की भाँति विलीन हो गयी।"

और यही था उनका जीवन—सहज और उदात्त।

मोरिशस से वापस आने पर मैंने उनसे हिन्दी तथा मोरिशस के सम्बन्ध में लिखित उत्तर माँगा, तो उन्होंने विस्तृत जवाब भेजा।

" प्रियवर श्री शंकरदयाल जी,

" कल आपका पत्र मिला। मोरिशस में कई दिनों का साथ रहा, वह बराबर याद रहेगा। मोरिशस का द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन बहुत ही प्रभावशाली रहा। हिन्दी के बढ़ते

हुए व्यापक प्रभाव को इस सम्मेलन ने बहुत अच्छी तरह उभार दिया। यद्यपि सम्मेलन की सफलता से प्रसन्नता हो रही थी तो भी मन के किसी कोने से यह आवाज़ निकल रही थी कि अपने देश में हिन्दी की स्थिति उतनी सशक्त नहीं है, जितनी ऐसे विश्व हिन्दी सम्मेलनों के लिए आवश्यक है। फिर भी मुझे यह सन्तोष भी होता रहा कि इस सम्मेलन का असर घरेलू मोर्चों पर भी बहुत अच्छा होगा। अभी तक देश के प्रभावशाली लोगों ने हिन्दी को मन से स्वीकार नहीं किया है, ऐसा लगता है। लेकिन इस सम्मेलन से उनका विरोध कुछ शिथिल होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

"इस सम्मेलन का सबसे बड़ा सुखद परिणाम यह हुआ है कि हिन्दी संघर्ष की भाषा के रूप में नहीं, बल्कि संसार में शान्ति की संदेशवाहिका भाषा के रूप में स्वीकृत हुई है। भारतवर्ष में और बाहर भी यह जिन लोगों की भाषा है, वे किसीको दबाने की नीयत से नहीं गये। हिन्दी भी इसीलिए दबे हुए लोगों की आवाज के रूप में उभरी है। जब यह सम्मेलन हो रहा था तो मेरे मन में बार-बार एक और घटना उभर रही थी—वह यह कि हिन्दी आज तो नहीं लेकिन निकट भविष्य में उन गुटनिरपेक्ष देशों की सशक्त वाणी के रूप में प्रकट होगी, जिनका ऐतिहासिक सुखद सम्मेलन कुछ दिन पहले कोलम्बो में हुआ था। मोरिशस में रह-रहकर मेरे मन में कोलम्बो उदित हो आता था। यद्यपि किसीने भी ऐसी कोई बात नहीं कही कि कोलम्बो और मोरिशस के सम्मेलन में किसी प्रकार का सम्बन्ध है। मैं यह भी नहीं जानता कि मेरे सिवा और किसीके मन में कोलम्बो का गुटनिरपेक्ष सम्मेलन उदित हुआ भी या नहीं। परन्तु मेरे मन में एक स्वप्न साकार होता दिखाई दिया। भगवान की इच्छा होगी तो जल्दी ही यह बात स्वीकार की जायेगी कि सताए हुए और दबाए हुए लोगों की शक्तिशाली आवाज के रूप में हिन्दी पूर्वी आकाश में उदित हो रही है। क्योंकि आज चाहे न दिखे लेकिन एक दिन तीसरे विश्व की भाषा के रूप में हिन्दी आने वाली है, आ रही है।

"परन्तु हम हिन्दी के लेखकों और विचारकों की दृष्टि इतनी दूर तक शायद नहीं जा सकी। सम्मेलन में जो व्याख्यान हुए, उनमें से अधिकांश ऐसे थे, जिससे ऐसा लगता था कि हमने अवसर के ठीक स्वरूप को नहीं पहचाना। हम अब भी यही सोचते हैं कि हमारी बात अपने ही दस-पाँच जनों में सुनी जाने वाली है। कोई ऐसा उपाय होना चाहिए कि हम संकीर्णता से थोड़ा विशालता की ओर उन्मुख हों। हम जो कुछ भी लिखें, वह यह सोचकर लिखें कि इसका पाठक सारा संसार है। हिन्दी को विश्वभाषा बनाने के लिए इस प्रकार का चित्तगत विस्तार बहुत आवश्यक है।

"मुझे बराबर यह लगता रहा कि ऐसे विशाल मंच पर आने के लिए देश में बहुत अच्छी तैयारी होनी चाहिए। जो घर में ही अपने को उपेक्षित समझते हैं, वे सारे संसार को क्या सन्देश दे सकेंगे? आप संसद के प्रभावशाली सदस्य हैं। आप और अन्य हिन्दीप्रेमी ऐसा प्रयत्न करें कि देश में हिन्दी को उचित सम्मान प्राप्त हो। क्योंकि जब तक वह देश में सम्मानित नहीं होगी, तब तक वह कमज़ोर नींव पर ही आधारित होगी।

"आशा है स्वस्थ और सानन्द हैं।

विनीत
हजारीप्रसाद द्विवेदी"

साहित्य और व्यक्ति की ऊँचाई का शायद सबसे बड़ा प्रतिमान है उसका खुला व्यक्तित्व, उदार स्वभाव, सहजता का प्रतिमान एवं किसीके लिए भी सुलभ हो सकने की

क्षमता। शायद ही बीसवीं शताब्दी के पाँचवें-छठे और सातवें दशक का कोई साहित्यकार इस ऊँचाई पर होगा, जिसपर द्विवेदी जी थे, तभी तो उनकी मृत्यु पर श्रद्धा के फूल चढ़ाते हुए 'रविवार' में श्री प्रभाकर माचवे ने लिखा है :

"आचार्य हजारीप्रसाद परंपरा और आधुनिकता के अद्‌भुत सम्मिश्रण थे। गंभीर विद्वत्ता और परिहास-बुद्धि, दर्शन और इतिहास का अगाध ज्ञान और शिशु-सुलभ सहजता उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा में एकसाथ संपुंजित थे।"

सरल-हास्य और विनोद के वे जीवित पुंज थे। एक बार जब मैं काशी में पढ़ता था, छात्रावास के मेरे कमरे में ही एक साहित्यिक गोष्ठी हुई, जिसमें कई वरिष्ठ-कनिष्ठ साहित्यकारों की उपस्थिति को द्विवेदी जी ने केन्द्रविन्दु बनाकर अविस्मरणीय बनाया। गोष्ठी में कई सुप्रसिद्ध कवियों की कविताएँ हुईं। जब श्री त्रिलोचन शास्त्री की बारी आयी तो वे कन्नी काटने लगे कि मुझे तो अपनी कोई चीज याद ही नहीं रहती। बहुत कहने का भी जब कोई असर उन-पर नहीं हुआ तब द्विवेदी जी ने कहा, "आप अपनी कोई भी रचना सुनाइये, जहाँ भूल जायेंगे, मैं याद दिला दूँगा।" और इस आश्वासन पर त्रिलोचन जी ने अपनी सॉनेट की पहली पंक्ति शुरू की :

मुझसे भूला न गया। उनसे भुलाया न गया।

दो-चार-छह-दस बार वे यही एक पंक्ति कहते रहे और आगे की दूसरी पंक्ति भूल गये, तब द्विवेदी जी ने बहुत गंभीरता से कहा :

इनसे खोला न गया। हमसे खुलाया न गया।

और इसके बाद जो ठहाका वहाँ लगा तो सारा भवन हिल उठा।

उनके स्वभाव में मधुरता कूट-कूटकर भरी थी। मिलते ही ऐसा लगता था मानो अपने स्वभाव की मृदुता और अपनापे से वे हथेली पर उठा लेंगे तथा आँखों से बरसती स्नेहधारा में नहला देंगे।

मोरिशस में आयोजित द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन से जब हम सब वापस आ रहे थे तो पूरे जहाज़ का माहौल ही कुछ और था। भारत के लगभग सभी वरिष्ठ, सुप्रसिद्ध और चर्चित साहित्यकार, पत्रकार, कवि और बुद्धिजीवी एकसाथ उड़ रहे थे, श्री भगवतीचरण वर्मा भी और शिवमंगल सिंह सुमन भी। डा० कामिल बुल्के भी तथा डा० मल्लिक मुहम्मद भी। धर्मवीर भारती भी और कन्हैयालाल नन्दन भी। विमल मित्र भी और अमृता प्रीतम भी। लेकिन केन्द्र में बैठे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सचमुच में इस अन्तरिक्ष में भी केन्द्रविन्दु ही थे। रह-रहकर उनकी एक-एक बात फुलझड़ी के समान फूटती थी और जो ठहाका सुनाई देता था वह सोतों को तो जगा ही देता था, साथ ही जहाज़ को भी हिला देता था।

बम्बई करीब आ रहा था और किसीने बताया कि आज अमृता प्रीतम जी का जन्म-दिवस है। बम्बई में प्लेन रुकने पर मैं बाहर गया और किसी उद्यम से एक माला ले आया, जिसे उस उषःकाल में द्विवेदी जी ने हम सबों की ओर से शुभकामनाओं के साथ अमृता प्रीतम जी के गले में डाला। दो विभूतियों का मिलन यों भी पुलकन-भरा होता है और द्विवेदी जी का ऊंचा कद तथा अमृता जी का नाटा कद उस समय देखने ही योग्य था जब द्विवेदी जी को कुछ झुकना पड़ा और अमृता जी को कुछ ऊंचा होना पड़ा।

और इन्हीं सुवासित स्मृतियों में एक है यह करुण स्मृति भी। द्विवेदी जी की मृत्यु के करीब चार-पाँच महीने पहले हिन्दी संस्थान की बैठक में भाग लेने लखनऊ गया तो वहाँ शिवानी जी से मिलने गया, उन्होंने जो प्रसंग सुनाया वह कहते-कहते उनका गला रुँध आया

और मैंने अपनी डायरी में उस दिन उसे इस प्रकार शब्दबद्ध किया था :

" शिवानी जी किंचित् परेशान थीं, जिसे अंग्रेजी में 'डिस्टर्ब' कह सकते हैं। कारण था अकारण-सा लेकिन जिस जीवन की थाप में वह बड़ी हुई हैं उसके लिए यही बड़ी बात है। उन्हें यह पता चला कि आज आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी हिन्दी संस्थान की बैठक में भाग लेने आये तो रिक्शे से उन्हें जाना पड़ा और कल मुख्यमन्त्री ने उन्हें मिलने का समय दिया और जब वे मिलने गये तो मुख्यमन्त्री गायब थे।

"साधारणतया ये साधारण बातें हैं लेकिन शिवानी जी के लिए ये बातें असाधारण थीं। भला पंडित जी ऐसे व्यक्ति को इस शहर में और इस देश में रिक्शे से चलना पड़े और मुख्य-मन्त्री समय देकर अनुपस्थित हो जायें, यह दुख और शर्म की बात है। विचलित-सी वे बोलीं, 'मैंने स्वयं देखा है कि शांतिनिकेतन में गुरुदेव पंडित जी की कितनी इज़्ज़त करते थे। जब कभी वे उन्हें अपने पास बुलाते, उनके खाने-बैठने की छोटी से छोटी बातों का भी ध्यान स्वयं रखते थे और वही पंडित जी यहाँ रिक्शे पर बैठक में जायें।' लगता था जैसे वह इस मर्मव्यथा को नहीं सह पायेंगी और रो देंगी।

" पंडित जी इनके गुरु रहे हैं और मैंने गुरु-शिष्या का स्नेह-अनुराग विगत दो अवसरों पर देखा है। शिवानी जी की रग-रग से चूता हुआ श्रद्धा-भाव और द्विवेदी जी की आँखों से झरता हुआ स्नेह-अनुराग।

" अब तो सब लुप्त होता जा रहा है। ज्ञान की गरिमा भी, श्रद्धा का विवेक भी, संबंधों की परम्परा भी। पता नहीं माटी को क्या होता जा रहा है? सौंधी गंध की जगह लगता है मानो रबर पहियों को जलाकर कोई हाथ सेंक रहा हो, कैसी उबकाई वाली चमरौंधी गंध!

" क्या होता जा रहा है युग को, समाज को, सत्ता को और व्यक्ति को? पहले सुनते थे कि गंगा के पानी में कीड़े नहीं पड़ते थे, वर्षों उन्हें शीशी-बोतल में बंद करके रखो और अब चरणामृत में भी कीड़े बिलबिलाते रहते हैं।

" शिवानी जी के व्यक्तित्व में गरिमा भी है तथा संस्कारों का दिग्दर्शित बोध भी। अल-मोड़ा की हवा और शांतिनिकेतन का पानी और गुलिस्ताँ की बुलबुलों की चहक सब मिल-मिलाकर संगम का चित्र प्रतिध्वनित करते हैं।"

वास्तव में द्विवेदी जी एक कालजयी पुरुष थे। मन्वन्तरों की केवल पहचान ही उन्हें न थी, बल्कि उनकी पकड़ भी थी। गंधमादन पर्वत की वे ऐसी चोटी थे, जिसपर सहज ही कोई पहुँच सकता था। उनके नाम के साथ जितना 'आचार्य' शब्द शोभता था, उतना शायद ही किसी और नाम के साथ।

एक ओर उन्हें सत्यं, शिवं, सुन्दरं की अभीष्टि थी, तो दूसरी ओर व्यक्तित्व के अलबेले-पन में व्यक्तित्व, कृतित्व और वक्तृत्व का त्रिवेणी-योग।

वह व्यक्ति नहीं, लौ थे। एक ऐसी लौ जो कभी मद्धिम नहीं होती। □





विमल विवेक, आस्था और विश्वास के शिल्पी महाकवि तुलसीदास

प्रो० विजयेन्द्र स्नातक

□□

बीसवीं शताब्दी में हमने तुलसी को उन स्तरों पर पहचानने की कोशिश की है जिनपर शायद पहले किसीने ध्यान नहीं दिया था। हाँ, पाश्चात्य लेखकों और इतिहासकारों की दृष्टि उन्नीसवीं शती में भी तुलसी के व्यापक प्रभाव की ओर गयी थी और उन्होंने तुलसी के व्यक्तित्व की छाप को उत्तर भारत की जनता पर आँकने का प्रयत्न किया था। ग्राउज़, ग्रिफ़िथ, ग्रियर्सन, विंसेंट स्मिथ आदि अंग्रेज़ लेखकों ने तुलसी के व्यक्तित्व में 'लोकनायक' का रूप और कृतित्व में पारमार्थिक दिव्य संदेश-वाहक का गौरव देखा था। भारतीय जनता के लिए तुलसी उन्नीसवीं शती तक संत, भक्त, धार्मिक, उपदेशक ही बने हुए थे। फलत: उनकी श्रेष्ठतम कृति 'रामचरितमानस' भी धार्मिक पुस्तक के रूप में ही समादृत होती रही। मेरी अपनी समझ में किसी लोकवादी कृति का केवल धार्मिक रचना हो जाना या पाठकों द्वारा समझ लिया जाना उसके लिए सौभाग्य की बात नहीं है। तुलसी के संत और भक्त होने के बावजूद क्या 'रामचरितमानस' कोरी धार्मिक पुस्तक है? क्या रामकथा किसी धर्म-विशेष या सम्प्रदाय-विशेष की ऐसी कहानी है जिसे धर्म-मज़हब की तिजोरी में बन्द किया जा सकता है? यदि रामकथा को, मज़हब की तिजोरी में सीमित बनाकर रखने का प्रयत्न सफल हो जाता तो शायद तुलसी का महत्त्व और उनका सार्वभौम सन्देश भी आज हमें सुनाई नहीं देता। किसी भी श्रेष्ठ कृति को, जो 'लोकवादी' मूल्यों पर प्रतिष्ठित है, धर्म-सम्प्रदाय के पिंजड़े में बन्द कर देने से जो हानि होती है उसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। यह अच्छा ही हुआ कि बीसवीं शती के बुद्धिजीवियों ने तथा विदेशी विचारकों ने तुलसी का मूल्यांकन किसी रूढ़ धार्मिक मान्यता या प्रतिबद्धता के आधार पर नहीं किया। तुलसी के व्यक्तित्व और कृतित्व के आकलन में हमें विदेशी लेखकों का ऋणी होना चाहिए। तुलसी के साथ 'लोकनायक' विशेषण जोड़ने का श्रेय उन्हींको है।

तुलसीदास सामन्ती युग में उत्पन्न हुए थे। सामन्ती युग की परम्पराओं का सांस्कृतिक परम्पराओं के साथ संघर्ष होना स्वाभाविक था। सामन्ती युग के स्वामी, जिनका दबदबा उत्तर भारत में पूरी तरह व्याप्त था, इस्लाम धर्मावलम्बी थे। उनकी संस्कृति भारतीय, विशेषत: हिन्दू संस्कृति से नितान्त विपरीत थी। आक्रान्ता होने के बाद वे शासक बन गये थे। शक्ति उनके हाथ में थी। हिन्दू संस्कृति के बाह्य एवं आभ्यन्तर स्वरूप को छिन्न-भिन्न करने में उन्होंने कुछ उठा नहीं रखा था। उस समय सभी प्रकार के अन्तर्विरोध और असंगतियाँ समाज में पनप रही थीं। हिन्दू जनता के चिरपोषित सांस्कृतिक मूल्य, आस्थाएँ, विश्वास बुरी तरह लड़खड़ा रहे थे। ऐसी विकट स्थिति में इन विसंवादी स्वरों और आक्रमणों को रोकने का प्रयत्न करने

की शक्ति शास्त्र में नहीं रह गयी थी, आक्रामक शस्त्र हमारे शास्त्र पर भी कुठाराघात कर रहा था। एक प्रकार से उस समय हिन्दू जनता शस्त्र और शास्त्र दोनों स्तरों पर अपनेको पराजित अनुभव कर रही थी। तुलसी इस विपरीत स्थिति में शास्त्र का आश्रय लेकर खड़े होते तो शायद उन्हें वैसी सफलता न मिलती जैसी कि रामायण और रामचरित का आश्रय लेने से हुई। तुलसी के समक्ष जाति के अस्तित्व का प्रश्न था—भारतीय संस्कृति की रक्षा का प्रश्न था और प्रश्न था संघर्ष एवं संत्रास के बीच जूझती हुई जाति और धर्म को आस्था और विश्वास की सुदृढ़ भूमि पर खड़े करने का। तुलसी-साहित्य इन्हीं परिस्थितियों के बीच युगबोध का संदेश लेकर सामने आया। जातीय जीवन के लिए सशक्त और सुदृढ़ भूमि का संधान ही तुलसी-साहित्य की मूल प्रेरक शक्ति है।

भक्तिकाल में हिन्दी साहित्य में अनेक कवि उत्पन्न हुए। राम और कृष्णधारा के अतिरिक्त निर्गुण ज्ञान और प्रेम का आश्रय लेकर रचना करने वाले कवियों की भी इयत्ता नहीं है किंतु युगबोध से प्रभावित काव्य संभवतः एक ही है और वह है रामचरितमानस। युग का जितना प्रत्यक्ष और प्रखर बोध मानस में है उतनी भक्तिकाल की किसी अन्य रचना में लक्षित नहीं होता। राम और रावण के युद्ध में युगजीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का श्रेय यदि किसी आलोचक ने तुलसी को दिया है तो उसे सर्वथा त्याज्य नहीं समझना चाहिए। महाभारत और भागवतपुराण को उपजीव्य न बनाकर रामकथा को उपजीव्य बनाना और रामकथा को लोक-वादी भूमिका में प्रस्तुत करना इस बात का प्रमाण है कि तुलसी केवल शान्ति और संतोष में ही विश्वास नहीं करते थे, वरन् वे संघर्ष और द्वन्द्व के बीच लड़खड़ाती जाति को प्रवृत्तिपरायण बनाकर, विघटन और बिखराव के बावजूद सार्थक जीवन का मार्ग सुझाना चाहते थे। निराश, कुंठित और भग्न जीवन की सार्थकता प्रेम और शृंगार के गीत गाने में नहीं है, प्रत्युत निराशा के मूल पर कुठाराघात करने में है। मानस का मूल संदेश इसी दिशा में ले जाने वाला है। राक्षसों का वध और विपत्तियों की विशाल पर्वतश्रेणियों पर विजय पाना ऐसे ही सार्थक जीवन-सरणि की द्योतक है।

निस्सन्देह तुलसी ने रामायण की पुराकथा को ही उपजीव्य बनाकर 'रामचरितमानस' की रचना की है किन्तु उन्होंने वाल्मीकि और कालिदास की रामकथा का अन्धानुकरण नहीं किया। मानस की रामकथा अपने युग को वाणी देने वाली युगबोध से सम्पृक्त नव्य चेतना के संस्पर्श से लिखी गयी है। कहना न होगा कि तुलसी ने मानस की रामकथा की आत्मा को नवीन कलेवर दिया है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति जिस राम को स्वीकार कर कथा लिख गये हैं तुलसी का राम उनसे कई रूपों में भिन्न है। तुलसी की रामकथा आस्था, विश्वास और विमल विवेक पर आधारित है। निराश और भग्नमनोरथ जाति को जिस प्रकार के राम अर्थात् भगवान की, नारायण की आवश्यकता थी, तुलसी ने उसी रूप के राम की अवतारणा की है। 'रामचरितमानस' का मूल स्वर इसीलिए न तो सम्पूर्णतः वीररसात्मक है और न उसमें शृंगार या करुण का ही प्राधान्य है। आत्मनिवेदन और समर्पण की उदात्त भूमि पर कथा को पल्लवित करते हुए मानस के पात्र अपने व्यक्तित्व का विकास करते हैं। परिस्थितियों की विषमता के मध्य गुजरते हुए विवेक का सम्बल रखने वाले ये सहज संयमी पात्र पाठक की सहानुभूति स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। मानस के पात्र जिस संघर्ष में से गुजरे हैं उसे झेल लेने की शक्ति उन्हें सत्य, संयम और विवेक से प्राप्त होती है। तुलसीदास ने राम को परम ब्रह्म तो माना ही है किंतु सांसारिक संघर्ष और युद्ध के संघर्ष में उन्हें धीरता और वीरता का प्रतीक भी कहा है। लंका के रणक्षेत्र में वीर-बलवान शत्रु रावण विशाल रथ में बैठकर युद्ध करने आता है। चार घोड़ों

के अजेय रथ में बैठे रावण को देखकर राम न तो भयभीत होते हैं और न हतप्रभ ही। हाँ, विचारा विभीषण अवश्य सहम उठता है। सोचता है, राम के पास न तो रथ है और न कवच, शस्त्रास्त्र भी बहुत नहीं हैं। तब किस प्रकार ये बलवान शत्रु को जीत सकेंगे :

नाथ न रथ नहिं तन-पद त्राना। केहि विधि जितहि बीर बलवाना।

राम के समक्ष विभीषण को शंकाकुल भय जिस रूप में आया, उन्होंने उसे बड़े सहज रूप में स्वीकार किया किन्तु वे न तो भयभीत हुए और न उद्वेलित ही। बड़े शान्त भाव से उन्होंने विभीषण को समझाया :

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्पन्द न आना।।
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।।
बल विवेक दम परहित थोरे। छमा कृपा समता रनु तोरे।।
ईस भजन सारथी सुजाना। विरति चर्म संतोष कृपाना।।
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। वर विग्यान कठिन कोदंडा।।
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहिसम विजय उपाय न दूजा।।
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें।।

तुलसी को विश्वास था कि मुगल साम्राज्य के दुर्द्धर्ष प्रभाव को जीतने की शक्ति शस्त्रों में नहीं विशुद्ध सदाचरण में निहित है। राम के रथ के अवयव आचार-नीति से ही बने हुए हैं अतः उन्हें जीतने के लिए शत्रु ही मिलना कठिन है। मुगलों के शासन और शोषण से संत्रस्त जनता को ऐसा ही विमल विवेक अभीष्ट था।

तुलसी ने 'रामचरितमानस' के द्वारा पराजित जाति के जीवन में एक ऐसी चेतना का संचार करना चाहा था जो अपने भीतर छिपी दैवी शक्ति को नितान्त विस्मृत कर चुकी थी। हताश और पददलित जातियाँ जब बाह्य उद्बोधन से जाग्रत् नहीं होती तब उन्हें अन्तःउद्बोधन से जगाया जाता है। तुलसी ने यही जागरण-संदेश उस समय इस देश में मानस द्वारा संचरित किया था। तुलसी ने रामायण के चिरपरिचित पात्रों के स्थान पर किसी नये पात्र की सृष्टि नहीं की किन्तु उन्हीं पात्रों को चित्रण में नवीन भूमिका पर अवस्थित किया, वह मूलतः सांस्कृतिक भूमिका थी। राम न तो नरपति के रूप में आये हैं और न नरपुंगव के रूप में ही। अतः उनके चरित्र में युगसंदर्भ के अनुसार तुलसी ने अभीष्ट परिवर्तन किया है। भरत का जो रूप रामचरितमानस में अंकित हुआ वह न तो 'वाल्मीकि रामायण' में है और न 'रघुवंश' में। तिल-तिल कर अपनेको यातानाओं में जलाने वाले भरत कहीं भी ग्लानि-भार से विगलित नहीं हैं। विमल विवेक के अमोघ अस्त्र ने उन्हें जीवन-परिष्कार का मार्ग सुझाया है और उनके द्वारा वे मानव-जीवन की सफलता के चरमोत्कर्ष पर पहुंचे हैं। अपनी माता कैकेयी के मूर्खतापूर्ण कृत्य के लिए भरत को पश्चात्ताप करने की आवश्यकता न थी। भरत को समाज के सम्मुख एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना था जो सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा के साथ अनुकरणीय भी होता। भरत ने अग्रज का आदेश मानकर अयोध्या में रहना स्वीकार किया किंतु गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी संन्यस्त रहे। भोग-विलास को उन्होंने स्वयं नहीं छोड़ा, भोग-विलास को उनके पास आने का साहस ही नहीं हुआ। पिता के राज्य को भोगने के स्थान पर उन्होने उसे सहने और काटने के लिए स्वीकार किया। इस प्रकार के अलौकिक चरित्र की अवतारणा का श्रेय तुलसी को ही है।

तुलसी के साहित्य को रूढ़िवादी, संकीर्ण, आत्मकेन्द्रित, स्वान्तःसुखाय आदि ठहराकर कुछ समीक्षक उसको लोकवादी नहीं मानते। वस्तुतः ऐसी मान्यता वाले समीक्षक या तो एकांगी दृष्टि रखते हैं या साहित्य के मर्म को समझने की शक्ति उनमें नहीं होती। किसी प्रकार

का आरोप-अभियोग लगाये बिना मैं तुलसी-साहित्य के मर्मोद्घाटन की बात कहना चाहता हूँ। मेरी मान्यता है कि तुलसी का साहित्य शुद्ध ऐकान्तिक आनन्दोद्गार मात्र नहीं है। व्यक्तिगत उद्गार को सामाजिक स्तर पर प्रतिष्ठित करना ही तुलसी का लक्ष्य था और 'स्वान्त: सुखाय' शब्दों का प्रयोग उन्होंने इसी अर्थ में किया था। तुलसी का मानस सामाजिक स्तर पर व्यावहारिक उपयोगिता का सशक्त काव्य है जो लोकमर्यादा और लोकव्यवहार की उपेक्षा नहीं करता। यह ठीक है कि तुलसी लोकरुचि की दासता नहीं करते किंतु उसकी सर्वथा अवहेलना भी उनके साहित्य में नहीं है। तुलसी ने अपनी अनुभूतिजन्य उक्तियों से लोकरुचि का अनुमोदन प्राप्त किया है, उसे स्वानुरूप बनाया है और उसका परिष्कार किया है। 'रामचरितमानस' फलत: आद्योपान्त लोकरुचि के परिष्कार के प्रयास से ओतप्रोत है।

तुलसी-साहित्य की मीमांसा करते समय हमें साहित्यकार के दायित्व का ध्यान रखना चाहिए। साहित्यकार का दुहरा दायित्व होता है। जिस युग में साहित्यकार रहता है उसे अपने युगधर्म का पूरा बोध रहता है और वह किसी न किसी रूप में युगधर्म को अपने साहित्य में स्थान देता है। अर्थात् समय की तरंगों पर खेलना और समसामयिक युग को चित्रित करने का दायित्व वह छोड़ नहीं सकता। उस युगधर्म का पालन करते समय वह लोकाचार, लोकनीति, लोकसंग्रह पर आँख जमाये रहता है। किंतु दूसरे दायित्व को जो अन्तर्मुखी दायित्व है, उसमें धर्म, दर्शन, जीवनध्येय तथा आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश है। तुलसी ने दोनों दायित्वों का भली भाँति निर्वाह किया है। मेरी मान्यता है कि जिस लोकसंग्रह और लोकमंगल को बहुत उभारकर सामने लाया गया है उससे कहीं अधिक गंभीर, तलस्पर्शी दृष्टि तुलसी की दूसरे दायित्व के प्रति रही है। लोकसंग्रह को मैं मूलभाव नहीं मानता। जीवन-दर्शन और जीवन-ध्येय के स्तर पर लोकसंग्रह और लोकाचार हल्के ठहरते हैं। अत: मूलभाव की खोज करते समय हमें अपनी दृष्टि शाश्वत मूल्यों पर ही केन्द्रित रखनी चाहिए।

तुलसी-साहित्य के वर्ण्य विषयों पर ध्यान देने से यह बात और अधिक स्पष्ट होती है कि तुलसी की दृष्टि क्षणिक लोकसंग्रह पर केन्द्रित न होकर उन मूल्यों पर टिकी हुई थी जो मानव-जीवन को पूर्णता की ओर ले जाते हैं। 'रामचरितमानस' की रचना में जीवन के विविध पक्षों पर कवि की दृष्टि रही है। उसमें पात्रसृष्टि के माध्यम से युगबोध को स्पष्ट किया गया है। युगबोध के बाद तात्त्विक विमर्श के अनेकानेक प्रसंगों की उद्भावना की गयी है। धर्म, दर्शन, नीति, अध्यात्म, सभीकी गहरी ऊहापोह हुई है। 'विनयपत्रिका' वस्तुत: एक भक्त की आत्मनिवेदनपूर्ण वाणी है किन्तु वह वाणी दैन्य और कार्पण्य की अतल गहराइयों से निकलकर करुणा की स्रोतस्विनी बनकर बही है। अहं के विसर्जन के साथ भक्त की समर्पण भावना पर तुलसी की दृष्टि सर्वत्र जमी रही है। जो लोग 'विनयपत्रिका' को दैन्यपूर्ण पलायनवादी मनोवृत्ति की रचना कहते हैं वे यह भूल जाते हैं कि तुलसी की दृष्टि अपने लिए किसी पदार्थ-प्राप्ति पर नहीं है। भगवान की शरण में जाकर जो याचना तुलसी करते हैं उसमें उनका भक्त अपना सब कुछ विसर्जित करना चाहता है और बदले में केवल भगवद्भक्ति, भगवत्कृपा की ही कामना करता है। यदि इतिहास और युगधर्म के परिप्रेक्ष्य में 'विनयपत्रिका' के मूलभाव पर विचार करें तो विदित होगा कि तुलसीदास की दैन्य और कार्पण्य की शब्दावली आह्लाद और पौरुष का तेज भक्त के मन में उत्पन्न करती है। दारुण एवं विषम परिस्थितियों के बीच भक्तमन की पीड़ा और दंश किस प्रकार सह्य बन जाते हैं, किस प्रकार हताशा और पराजय, आशा और विजय के आवेश से परिपूर्ण हो जाते हैं, यह देखना हो तो 'विनयपत्रिका' के पदों में देखा जा सकता है।

जिस कवि ने 'रामचरितमानस' और 'विनयपत्रिका' जैसे दो भिन्न संवेदनाओं के काव्य लिखे हैं उसीने 'कवितावली' जैसे ओजस्वी काव्य की सृष्टि की है। विस्मय होता है कि तुलसी जैसे भक्तकवि में किस प्रकार यह पौरुष उत्पन्न हुआ और कैसे उन्होंने यह वीरकाव्य लिख डाला। शौर्य-पराक्रम के ओजपूर्ण प्रकरणों के साथ कलिकाल का यथार्थपरक चित्रण भी तुलसी की क्रान्तदर्शिता का प्रमाण है। तुलसी की एक कृति 'गीतावली' बिलकुल नये फलक को स्पष्ट करती है। मानवीय सुकुमार भावना एवं संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए 'गीतावली' में कवि ने जो मार्ग निकाला है वह संघर्षश्लथ, थकित चित्त के लिए विश्राम की सुरम्य भूमि बन गया है। 'दोहावली' में तुलसी ने अद्भुत त्याग, बलिदान और प्रेम का चित्रण किया है। चातक के माध्यम से प्रेम की अनन्यता, निष्ठा, अविचल आस्था को स्पष्ट करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है।

संक्षेप में, मैं तुलसी के काव्य को आस्था, विश्वास और विमल विवेक की अवदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित लोकवादी काव्य मानता हूँ। 'रामचरितमानस' कवि के बहुविध कृतित्व का पूंजीभूत निदर्शन है। इस कृति में लोकमंगल और लोकसंग्रह के साथ धर्म, दर्शन, नीति और शाश्वत जीवन-मूल्यों की स्थापना है। यह रामकथा के माध्यम से मानव की सफल जीवन-यात्रा का संदेशवाहक काव्य है। □



'गुप्त' या 'गुप्ता'

बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त इस युग में अपने ढंग के एक ही व्यक्ति हो गये हैं। हृदय की विशालता और सरलता, उदारता, अनुभूति की तीव्रता, देशभक्ति और हिन्दी-निष्ठा का एक व्यक्ति में वैसा शुभ संगम और कहीं देखने को नहीं मिला। वैसे तो वे बड़े सहिष्णु थे किंतु कुछ ऐसी बातें थीं जिनको वे सहन नहीं कर सकते थे। वे घर के भीतर जूता पहनकर लोगों का आना पसंद नहीं करते थे। कमरों के द्वारों पर उन्होंने लिखवा रखा था—"यह हिन्दुस्तानी घर है। कृपया जूता उतारकर भीतर जाइये।" इसी प्रकार भाषा की अशुद्धियाँ और नामों का विकृत करना भी उन्हें बहुत बुरा लगता था। जब से उनकी धर्मपत्नी जी का स्वर्गवास हो गया था तब से उन्होंने कोठी में रहना छोड़ दिया था और उसके पास ही एक कुटी बनवाकर उसके विशाल दालान में वे रहते थे। एक बार काशी के किसी सज्जन ने उन्हें अपने नौकर के हाथ एक पत्र भेजा। लिफ़ाफ़े पर लिखा था, "श्री शिवप्रसाद गुप्ता, सेवा-कुञ्ज, काशी।" आपने लिफ़ाफ़ा हाथ में लिया और पता पढ़ा। पता पढ़ते ही उन्होंने अपने सहकारी को आवाज़ देकर बुलाया और बोले, "यह पत्र तो श्री गुप्ता के लिए है, मेरे लिए नहीं। इसपर लिख दो कि श्री गुप्ता का स्वर्गवास हुए बहुत दिन हो गये। हम इसे उनके पास भेजने में असमर्थ हैं।" लिफ़ाफ़ा, ज्यों का त्यों उपर्युक्त शब्दावली लिखकर बिना खोले, लौटा दिया गया!



फारसी में भारतीय ग्रंथों का अनुवाद और रामकथा

डॉ० शैलेश जैदी

□□

फ़ारसी भाषा और साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि हिन्दू धर्म तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान में फ़ारसी साहित्यकारों ने पर्याप्त रुचि ली है। अरब तथा फ़ारस के बुद्धिजीवी वर्ग ने बौद्ध तथा ब्राह्मण पण्डितों से दर्शन, ज्योतिष, गणित, चिकित्सा, रसायन-शास्त्र आदि अनेक क्षेत्रों में बहुत कुछ प्राप्त किया है। इन विषयों से सम्बद्ध अनेक अरबी-फ़ारसी ग्रंथ संस्कृत ग्रंथों से अनूदित होकर प्रकाश में आये हैं।

अनुवाद का अपना एक विशेष महत्त्व है और प्रत्येक सभ्य समाज में मानवीय मूल्यों के आधार पर ऐसे ग्रंथों का दिव्य स्वागत होता रहा है। वस्तुतः इस प्रकार के ग्रंथ अपने युग की उदार दृष्टि का संकेत देते हैं और भाषाओं की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक सीमाओं को तोड़कर बुद्धिजीवी वर्ग को संतोष प्रदान करते हैं। किसी भी देश की सांस्कृतिक प्रगति में इनका अविस्मरणीय योग होता है।

ईसा की 8वीं शताब्दी तक संस्कृत के ग्रंथों की लोकप्रियता अरब तथा ईरान देशों में हो चुकी थी। ख़लीफ़ा मंसूर (753-774 ई०) के युग में विष पर लिखे एक संस्कृत ग्रंथ का अनुवाद पहलवी भाषा में हुआ था। ऐसे और भी अनेक ग्रंथ हैं जो पहले पहलवी में फिर अरबी में अनूदित हुए। ब्रह्मगुप्त द्वारा लिखित **सूर्यसिद्धान्त** तथा **खण्ड-खाद्यक**, प्रसिद्ध ग्रंथ **चरक-संहिता** तथा **स्त्रीचरित्र** एवं **बोधिसत्त्व**, सभीके अरबी अनुवाद हुए।

1026 ई० में अबुल हसन अली बिन मुहम्मद अलहबलाती ने, जो जुरजान जनपद के पुस्तकालय में संरक्षक थे, सेनानायकों के उपयोग के लिए **महाभारत** का अरबी से फ़ारसी में अनुवाद किया था। अरबी **महाभारत** संस्कृत से 1026 ई० के पूर्व अबू सालिह बिन सुयाब बिन जामी ने अनूदित की थी। अबुल हसन के फ़ारसी अनुवाद का सार बाद में **मुजमिल-अल-तवारीख़** में प्रकाशित हुआ।[1]

भारत में संस्कृत से फ़ारसी अनुवाद की जो परम्परा मिलती है, उसका प्रथम उदाहरण कालिंजर सम्राट् नंदा द्वारा सन् 1023 ई० में महमूद गजनवी की प्रशंसा में रचित एक श्लोक

1. S. K. Chatterjee, *An Early Arabic version of the Mahabharata Story*, Indian Linguistics, Vol. III, p. 156.

माना जाता है।[1] इसकी रचना की कथा रोचक है। कालिंजर सम्राट् ने महमूद के भय से स्वयं को किले में बन्द कर लिया था। अन्त में जब उसने पराजय स्वीकार की तो यह श्लोक महमूद की सेवा में प्रस्तुत किया। महमूद ने कालिंजर सम्राट् को पुरस्कार में अनेक दुर्ग भेंट किये।[2]

भारत के प्रारंभिक मुस्लिम सुलतानों में फ़ीरोजशाह तुगलक को छोड़कर किसीने भी हिन्दू धर्म तथा भारतीय ज्ञान-विज्ञान में विशेष रुचि नहीं दिखायी। 1362 ई० में फ़ीरोजशाह ने जब नगरकोट पर आधिपत्य स्थापित कर लिया तो उसे ज्वालामुखी मंदिर के पुस्तकालय से 1300 संस्कृत ग्रंथ उपलब्ध हुए। उसने आदेश दिया कि इनमें से कुछ का फ़ारसी में अनुवाद किया जाय।[3] सूफ़ी कवियों और सन्तों ने इस दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। 1314 ई० में मुहम्मद ने **अमृतकुण्ड** का **बहरुलहयात** के नाम से फ़ारसी अनुवाद प्रस्तुत किया। 1329 ई० में **शुकसप्तति** का फ़ारसी अनुवाद जिया ने **तूतीनामा** के नाम से किया। अमीर खुसरो तो मील का पत्थर बनकर भारतीय क्षितिज पर उभरे और उनकी रचनाओं में भारत का पवित्र और सुन्दर रूप अपनी पूरी सज्जा के साथ प्रतिविम्बित हुआ।

सूफ़ियों द्वारा किये गये प्रयास का परिणाम यह निकला कि कश्मीर के सुलतान ज़ैनुल आबदीन तथा भारत सम्राट् अकबर के मन में संस्कृत ग्रंथों के फ़ारसी अनुवादों की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। खेद का विषय है कि सुलतान ज़ैनुल आबदीन द्वारा कराये गये अनुवाद अब प्राप्त नहीं हैं।

अकबर इस दृष्टि से सौभाग्यशाली था कि उसे विद्वज्जनों का भरपूर सहयोग प्राप्त था। सम्राट् का प्रोत्साहन पाकर हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने समान रूप से अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया और अनुवादकार्य में अपनी प्रतिभा का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत किया। अकबर को स्वयं भी भारतीय तथा फ़ारसी साहित्य से विशेष अनुराग था। फलस्वरूप उसके आदेश से **रामायण, महाभारत, अथर्ववेद, पुराण** तथा **गीता** आदि ग्रंथों के फ़ारसी अनुवाद हुए। कल्हणकृत **राजतरंगिणी** का अनुवाद मुल्ला बदायुनी के निर्देशन में **बहरुल असमा** के नाम से हुआ। इसी प्रकार गणित की पुस्तक **लीलावती** का अनुवादकार्य भी संपन्न हुआ।

सम्राट् अकबर के पश्चात् शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह ने, जो अपने युग का एक प्रकाण्ड पण्डित था, इस क्षेत्र में विशेष रुचि ली। वह विभिन्न धर्मों में व्याप्त एकता के सिद्धान्तों की खोज में दीवाना था और इसी उद्देश्य से उसने हिन्दू धर्म तथा दर्शन के संपूर्ण सत को निकालकर मुसलमानों के अध्ययनार्थ प्रस्तुत किया। उसके समय के प्रसिद्ध ग्रंथों में **आबेज़िन्दगी, गुल्ज़ारे हाल** तथा **तरजुमए-योगवासिष्ठ** विशेष उल्लेख्य हैं। दारा का सबसे बड़ा कार्य उपनिषदों का अनुवाद **सिर्रे अकबर** है। कहा जाता है कि पाश्चात्य विद्वानों को उपनिषदों का रहस्य ज्ञान **सिर्रे अकबर** के माध्यम से हुआ।[4]

सम्राट् औरंगज़ेब के युग में भी यह रुचि बनी रही और हिन्दुओं तथा मुसलमानों ने अनेक भारतीय धर्म तथा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित ग्रंथ लिखे। मीरजाख़ान कृत **तुहफ़तुल हिन्द** तथा मीरजा रोशन जमीर कृत **तरजुमाए पारिजात** क्रमशः भारतीय काव्यशास्त्र तथा संगीत पर उपलब्ध अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर भारतीय धर्मशास्त्र एवं

1. अबुल क़ासिम फ़रिश्ता, 'तारीख़े-फ़रिश्ता,' जिल्द 1, पृ० 99
2. अबुल क़ासिम फ़रिश्ता, 'तारीख़े-फ़रिश्ता,' जिल्द 1, पृ० 59
3. 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया', वाल्यूम 3, पृ० 155
4. सबाहुद्दीन अब्दुर्रहमान, बज़्मे तैमूरिया, पृ० 406

कला पर लगभग पाँच सौ ग्रंथ फ़ारसी भाषा में उपलब्ध हैं ।[1]

भारतीय धर्मशास्त्र के इतिहास में **वेद** के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान **रामायण** का है । वाल्मीकि की सहृदय वाणी से प्रस्फुटित होने वाली यह काव्यकृति युगों की यात्रा करती हुई अवधी भाषा की मधुरता से निखरकर तथा तुलसी की काव्यप्रतिभा का स्पर्श पाकर भारत के हिन्दू समाज का प्राणाधार बन गयी। रामकथा की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि विश्व की लगभग सभी जीवित भाषाओं में इस कथा को स्थान मिल चुका है । मोनियर विलियम्स ने **इण्डियन एपिक पोइट्री** नामक ग्रंथ में **रामायण** का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है । रामायण का प्रथम अंग्रेज़ी अनुवाद 1806 ई० में केरी और मार्शमैन के प्रयत्नों से प्रकाशित हुआ। ह्वीलर ने 1869 ई० में एक अन्य अंग्रेज़ी अनुवाद प्रस्तुत किया। इतालवी भाषा में सगनूर कोरिसो ने और लैटिन में श्लैगल ने अपने-अपने ढंग के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये । इनके अतिरिक्त पद्यबद्ध अनुवाद आर० टी० ग्रीफ़िथ के प्रयास से 1870 ई० में प्रकाशित हुआ । स्वतन्त्र अनुवादों के रूप में विभिन्न भाषाओं में रामायण के अनेक पाठ प्रकाशित हुए ।

फ़ारसी भाषा में रामकथा को प्रस्तुत करने का पहला प्रयत्न कश्मीर के सुलतान ज़ैनुल आबदीन ने किया । किन्तु दुर्भाग्यवश इस अनुवाद की प्रतियाँ प्राप्य नहीं हैं । सम्राट् अकबर के प्रयत्नों से फ़ारसी गद्य में रामकथा को पहली बार अब्दुल कादिर बदायुनी ने प्रस्तुत किया ।[2] तत्पश्चात् थोड़े-थोड़े समय के अन्तराल से फ़ारसी साहित्यकार गद्य और पद्य में रामकथा को अपनी-अपनी क्षमताओं के अनुरूप प्रस्तुत करते रहे । इन फ़ारसी साहित्यकारों में अमानतराय, गिरिधरदास कायस्थ, अमरसिंह मुंशी, सादउल्लाह मसीह, भोलानाथ नादान, गोपाल इब्ने गोबिन्द, चन्द्रमणि, बेदिल, देवीदास कायस्थ, हरिवल्लभ सेठ और गोपीनाथ सहाय के नाम विशेष उल्लेख्य हैं । द्रष्टव्य है कि इन फ़ारसी साहित्यकारों में सादउल्लाह मसीह को छोड़कर अन्य सभी हिन्दू साहित्यकार हैं । इस बात से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि भारत की मुस्लिम जनता और उसके बुद्धिजीवी वर्ग में रामकथा को लोकप्रियता प्राप्त नहीं थी । बदायुनी ने भी रामायण का अनुवाद सच्चे मन से नहीं किया था । उसका यह कार्य सम्राट् के आदेशों का पालन-मात्र था । फ़ारसी के किसी मुसलमान अध्येता ने फ़ारसी रामकथा के अध्ययन में बाद में भी कोई रुचि नहीं दिखायी और यह खेद का विषय है कि भारतीय धर्मशास्त्रों पर लिखे हुए ग्रंथों की ओर अमीर हसन आबिदी जैसे दो-एक फ़ारसी विद्वानों को छोड़कर अन्य की दृष्टि नहीं गयी । आज इस प्रकार के कार्यों को प्रकाश में लाने की पर्याप्त अपेक्षा है । यह ग्रंथ पुस्तकालयों की शोभा अवश्य बने हुए हैं, पर इनके अध्ययन से इस क्षेत्र में नये आयाम जुड़ने की संभावना आज भी बनी हुई है ।

मौलाना आज़ाद पुस्तकालय, अलीगढ़; रज़ा पुस्तकालय, रामपुर; प्रदेश केन्द्रीय पुस्तकालय, हैदराबाद; खुदाबख्श पुस्तकालय, पटना; सालारजंग पुस्तकालय, हैदराबाद तथा अन्य अनेक व्यक्तिगत संग्रहालय ऐसे हैं जिनमें फ़ारसी भाषा में भारतीय धर्मशास्त्र तथा ज्ञान-विज्ञान के ग्रंथ बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं । अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में संरक्षित तुलसी के **राम-**

1. विशेष विस्तार के लिए देखिये लेखक की शीघ्र प्रकाश्य पुस्तक 'A descriptive Catalogue of Persian Mss. of Maulana Azad Librar, Aligarh, on Hindu Religion, Art, Culture and Sciences, Vol. I

2. बदायुनी, मुनतख़िबुतवारीख़, पृ० 366

चरित मानस का **समरतुल हयात** शीर्षक अनुवाद अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यहां रामकथा से सम्बद्ध कुछ एक फ़ारसी ग्रंथों का परिचय अपेक्षित जान पड़ता है जिससे इस दिशा में रुचि रखने वाले विद्वानों को विशेष सहायक सामग्री मिलने की संभावना बनेगी।

फ़ारसी में प्रथम महत्त्वपूर्ण रामकथा जो उपलब्ध है, वह सादउल्लाह मसीह कृत **दास्ताने-रामोसीता** है। इस ग्रंथ की रचना तुलसी के 'रामचरितमानस' के उनचास वर्षों के बाद सन् 1623 ई० में हुई। रियू की सूचना के अनुसार यह कथा भारतीय भाषा में सुरक्षित रामकथा का अनुवाद है। (ब्रिटिश म्यूजियम कैटलॉग, पृ० 1078)। फ़ारसी-भाषी जनता में इसकी लोकप्रियता का अनुमान इससे किया जा सकता है कि इस ग्रंथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ ब्रिटिश म्यूज़ियम, इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी, बाडलीन ग्रंथालय, बाँकीपुर पुस्तकालय, एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल तथा अलीगढ़ के ग्रंथालयों में उपलब्ध हैं। नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ ने 1899 ई० में इसे प्रकाशित भी किया है।

मसीह केराना के निवासी थे। मुक़र्रब ख़ाँ ने इन्हें दतक पुत्र के रूप में स्वीकार किया था। वैचारिक दृष्टि से वे एक सूफ़ी महात्मा थे। शेख़ पीर मुहम्मद अबुलबक़ा उनके गुरु थे। जहाँगीर के शासनकाल में मसीह विद्यमान थे। **रामायन** को फ़ारसी मसनवी पद्धति पर लिखा गया है। पहले शासक की स्तुति की गयी है, फिर गुरु की। भारत से मसीह को विशेष अनुराग था। भारत की प्रशंसा में उनके अनेक शेर अमीर खुसरो की याद दिलाते हैं। फ़ारसी कवियों में राष्ट्रप्रेम की यह भावना कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। मध्ययुगीन हिन्दी कवियों ने इस देश के किसी विशेष क्षेत्र के प्रति भले ही अनुराग व्यक्त किया हो संपूर्ण भारत का स्वरूप उनके साहित्य में स्पष्ट नहीं होता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जातिप्रेम और धर्मानुराग से भरे हुए मध्ययुगीन हिन्दी कवि राष्ट्रप्रेम की भावना से परिचित नहीं थे। मसीह ने रामकथा को मधुर कथा कहा है—**शकर गुफ़्तार ई शीरीं फ़साना**। राजा दशरथ को वे भारतीय सम्राट् के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिनके शासन की सीमाएँ बंगाल से सिंधु तक फैली हुई थीं। अध्ययन से यह संकेत मिलता है कि यह कथा अनुवाद न होकर मुल्ला मसीह की स्वतन्त्र रचना है। तुलसी के **मानस** और मसीह के **रामायन** का तुलनात्मक अध्ययन अनेक पहलुओं से उपादेय हो सकता है। सूफ़ी कवि इश्क़े-हक़ीक़ी के दीवाने थे। मसीह के **रामायन** से सूफ़ी विचारधारा का भरपूर संकेत मिलता है। राम के लौकिक रूप में ईश्वर का अलौकिक रूप देखना सूफ़ी परंपरा की ही एक कड़ी है। तुलसीदास सूफ़ी परंपरा से निश्चित रूप से परिचित थे और उनके मानस की रूपरेखा में सूफ़ी मत का पर्याप्त योग देखा जा सकता है।

मुल्ला मसीह के ही समयुगीन फ़ारसी के एक अन्य कवि गिरिधरदास भी थे जिन्होंने फ़ारसी में रामकाव्य की रचना की। इनकी रामकथा वाल्मीकि की कथा से मेल खाती है। अकबर के युग में गोबिन्ददास ने, जो कायस्थ वंश के थे, ब्रजभाषा में रामकथा प्रस्तुत की। इस प्रकार यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि अकबर तथा जहाँगीर के युग में रामकथा की लोकप्रियता बहुत बढ़ गयी थी और हिन्दी तथा फ़ारसी के अनेक कवियों ने इस कथा को काव्य के माध्यम से व्यक्त किया।

आगे चलकर 1693 ई० में रचित कवि बेदिल कृत फ़ारसी रामायण **नरगिसिस्तान** से इस परंपरा को और भी स्वस्थ होने का अवसर मिला। **नरगिसिस्तान** का प्रकाशन 1875 ई० में नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, से हुआ। बेदिल एक प्रतिभासंपन्न कवि जान पड़ते हैं। उनके मित्र संत शीतलदास ने उन्हें रामकथा सुनायी जिससे उनके मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वह रामकथा को फ़ारसी काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करें। वे लिखते हैं :

वली बूदे कि शीतलदास नामे।
रफ़ीक़ो हम नशीनो हम कलामे ।।
चुख्वाँद ऊ दास्ताने राम बा मन।
शुदम वशगुफ़्ता दर बातिन चु गुलबन।।
दिले बेदिल व जोश आमद व यक बार।
कि साज़म नज़्मे ज़िक्रे शाहे दिलदार।।

फलस्वरूप 1693 ई० में बेदिल ने **नरगिसिस्तान** को लिखकर समाप्त किया। बेदिल ने साठ वर्ष की अवस्था में इस कार्य को पूरा किया। इस प्रकार उनका जन्म 1633 ई० में होना स्वीकार किया जा सकता है। बेदिलकृत रामकथा एक मौलिक रचना है। युगीन संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में यदि इस ग्रंथ का अध्ययन किया जाय तो अनेक निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

बेदिल के तुरंत बाद ही **रामायन अमर प्रकाश** फ़ारसी गद्य में सन् 1705 ई० में लिखी गयी। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सम्राट् औरंगज़ेब का युग था। इस रामकथा के लेखक अमरसिंह श्रीवास्तव कायस्थ परिवार से सम्बन्ध रखते थे। उनकी जन्मभूमि बनारस थी। ब्रजभाषा में रचित रामायण के कवि गोबिन्ददास इनके पूर्वज थे। अमरसिंह के अनुसार उन्होंने इस कथा को **महाभारत, वाल्मीकि रामायण, हनुमाननाटक** और **रामचरितमानस** में पायी जाने वाली कथाओं के आधार पर लिखा है। इससे मानस की लोकप्रियता का संकेत मिलता है। कथा-लेखक ने सम्राट् औरंगज़ेब की बहुत प्रशंसा की है।

अमरसिंह के बाद सन् 1756 ई० में अमानतराय ने फ़ारसी काव्य में रामकथा की रचना की। अमानतराय पूरब में लालपुर नामक स्थान के निवासी थे। इनके पितामह दिल्ली जाकर बस गये, जहाँ वे राजा जुगलकिशोर के संपर्क में आये और उन्हींके आग्रह पर इस काव्य की रचना की। इनके पिता सुमानतराय भी फ़ारसी में कविता करते थे। इस **रामायन** को नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, ने प्रकाशित किया। वस्तुतः इसे भी किसी एक रामायण का अनुवाद नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह धारणा बनायी जा सकती है कि रीति युग में भी रामकथा के लेखन की परम्परा चल रही थी। खड़ीबोली-मिश्रित अवधी में लिखित साहबराय कायस्थ कृत **रामायन** को इस मत की पुष्टि में रखा जा सकता है। फ़ारसी लिपि में सुरक्षित हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की यदि सूक्ष्म रूप से खोज की जाय, तो अनेक रामकाव्यों के प्रकाश में आने की संभावना है।

अन्त में एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का परिचय कराना अपेक्षित जान पड़ता है। तुलसीकृत **मानस** के अध्ययन में इससे विशेष सहायता ली जा सकती है। यह ग्रंथ है कवि भोलानाथ नादानकृत **समरतुल हयात**। इसकी रचना सम्राट् शाह आलम के युग में सन् 1802 ई० में हुई। यह तुलसी के मानस का फ़ारसी अनुवाद है। इसकी केवल एक हस्तलिखित प्रति ही अब तक उपलब्ध हो पायी है। नादान फ़ारसी के अज्ञात कवि हैं। उनकी भाषा परिष्कृत है और वे अनुवाद कला में निपुण प्रतीत होते हैं। ग्रंथ में सात काण्ड हैं और प्रत्येक काण्ड को 'लम्आ' कहा गया है। इस ग्रंथ का प्रकाशन यदि हो जाये, तो इससे मानस का शुद्ध पाठ एवं अर्थ करने में अनेक सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

फ़ारसी भाषा में उपलब्ध रामकथा की सामग्री का अध्ययन किये बिना हिन्दी रामकाव्य परम्परा का वैज्ञानिक अध्ययन सम्भव नहीं है। इसलिए मैं समझता हूँ कि इस क्षेत्र में विद्वानों की दृष्टि जायेगी और परम्परागत निष्कर्षों से हटकर कुछ और भी महत्त्वपूर्ण विचार प्रकाश में आ सकेंगे। □



'रामचरितमानस' का विश्व-आयाम

डॉ० त्रिभुवननाथ चौबे

□□

गोस्वामी तुलसीदासकृत अमर ग्रंथ 'रामचरितमानस' का विश्व की अमर कृतियों में गौरवशाली स्थान है। विश्व के अप्रतिम प्रतिभाशाली साहित्यकारों—वाल्मीकि, कालिदास, शेक्सपियर, गेटे, दान्ते, टालस्टाय आदि की कोटि में विराजने वाले मनीषी तुलसी की एकमेव कृति 'रामचरितमानस' विश्व के किसी भी श्रेष्ठतम कविकृतित्व से समतुलित होने में समर्थ है। मानस में तुलसी की भारतीय चेतना का सत्स्वरूप समाविष्ट है। यही सार्वजनीन भारतीय चेतनामय तुलसी की यह कृति देशकाल की सीमा को पारकर सार्वकालिक हो गयी।

यह विश्वजनीन काव्यकृति हर दीन-दुःखी, दाव-आतप-तापित को शान्ति, परम विश्राम देने वाली अचूक ओषधि सिद्ध हुई। स्वान्तःसुखाय रचित उनके इस ग्रन्थ का लक्ष्य परान्तःसुख ही रहा है, 'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।' इसी हेतु उनके मानस में सार्वजनीनता, विश्ववादी नैतिकता एवं लोककल्याण की भावना की चरम व्याप्ति है। मानस की उपर्युक्त विशेषताओं ने, इन्हीं सनातन जीवन-मूल्यों ने संसार के किसी भी कोने के मानस-रसज्ञ को—चाहे वह इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मनी का वासी हो, रूस-अमेरिका का नागरिक हो, नेपाल, बर्मा, हिन्देशिया, थाईलैण्ड, चीन, जापान का काव्य-प्रेमी हो—अभिभूत-सम्मोहित किया है।

वस्तुतः प्रथमतः 'रामचरितमानस' का आधुनिक वैज्ञानिक रीति से सार्वजनीन महत्त्व-प्रकाशन, अध्ययन-अनुशीलन विदेशी विद्वानों द्वारा ही सम्पन्न हुआ। रामचरितमानस को अन्तर्राष्ट्रीय आयाम देने का सर्वप्रथम प्रयास महान फ्रांसीसी भाषाविद् गार्सां द तासी ने किया। आपने इस्तवार के दूसरे भाग में तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के सुन्दर काण्ड का फ्रांसीसी में गद्यानुवाद किया। यह अनुवाद (सन् 1839 ई०) यूरोपीय भाषाओं में मानस का सर्वप्रथम अनुवाद है। इसी संदर्भ में क्रमशः सर्वश्री एफ़० एस० ग्राउज़, सर जार्ज ग्रियर्सन, एल० पी० टेसीटरी और मानस के रूसी विद्वान अलैक्सेई बरान्निकोव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हम यहाँ रामचरितमानस-सुरसरिता की विश्वयात्रा की गरिमाशाली झलक देश-विशेष के साहित्यकारों की साधना का उल्लेख करते हुए प्रस्तुत करना चाहेंगे।

इंग्लैण्ड और 'रामचरितमानस'

श्री एफ़० एस० ग्राउज़ ने 'रामचरितमानस' का गहन अध्ययन संस्कृत की रामायणों, विशेषतः 'वाल्मीकि रामायण' से तुलना करते हुए किया है। उन्होंने मानस का अंग्रेज़ी भाषा में एक गद्यानुवाद भी किया, जो सन् 1876 ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद की भूमिका में उन्होंने इस कृति की गवेषणात्मक आलोचना प्रस्तुत की है। उन्होंने प्रथमतः बड़े ही

विश्वास के साथ यह निर्दिष्ट किया है कि 'रामचरितमानस' किसी भी प्रकार 'वाल्मीकि रामायण' का अंधानुकरण नहीं है। इसकी कथा अपना अलग वैशिष्ट्य भी रखती है।

सर जार्ज ग्रियर्सन

भारत में नियुक्त अंग्रेज़ प्रशासक, महान भाषावैज्ञानिक एवं काव्यमर्मी सर जार्ज ग्रियर्सन द्वारा 'रामचरितमानस' के मूल्यांकन का अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार स्तुत्य है। उन्होंने तुलसी और उनकी कृतियों की गवेषणा-समीक्षा की। वस्तुतः पहली बार उसे विशाल फलक पर प्रस्तुत किया। तुलसी तथा उनके महान मानस की विश्वस्तरीय अनोखी भक्तिमयी लोक-कल्याणकारी छवि प्रकाशित की एवं महान काव्यगुणों से युक्त उसके अध्ययन-अनुशीलन को अन्तर्राष्ट्रीय आयाम दिया। उनके द्वारा तुलसी और मानस पर पढ़े गये सुप्रसिद्ध निबंध मानस ही नहीं, हिन्दी की विश्वयात्रा के अमर शिलालेख हैं। उन्होंने मानससमेत तुलसी की समस्त कृतियों पर अनुसंधानात्मक टिप्पणियाँ, आलोचनाएँ, भूमिकाएँ लिखीं। श्री ग्रियर्सन ने मानसकार को महात्मा गौतम बुद्ध के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ लोकनायक सिद्ध किया।

इसके अतिरिक्त पादरी एटकिन्स द्वारा किया गया मानस का पद्यात्मक अनुवाद, जो बड़ी आकर्षक साज-सज्जा के साथ प्रकाशित हुआ है, उल्लेखनीय है। इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालयों में बराबर उत्साहपूर्वक मानस पर अध्ययन-अनुशीलनप्रसूत व्याख्या-विवेचन सम्पन्न हो रहा है। यह तथ्य तो सर्वविदित ही है। अभी हाल ही में वहाँ आयोजित मानस-चतुश्शती समारोह का भास्वर स्वरूप इसका ज्वलंत प्रमाण है।

फ्रांस और 'रामचरितमानस'

जैसा मैंने पहले ही उल्लेख किया है कि मानस-गंगा को यूरोपीय महाद्वीप में प्रवाहित करने का भगीरथ सदृश योगदान महान भाषाविद् गार्सां द तासी द्वारा ही हुआ है। इनके अतिरिक्त फ्रांस के काव्यरसज्ञ विद्वान मानस के अनुशीलन-मनन में सतत रत हैं। श्री चार्ली ते बा द विले (यूनिवर्सिटी द पेरिस) ने 'रामचरितमानस' का एक अनुवाद किया है। यह मुद्रित भी हो चुका है। आपने मानस पर गवेषणात्मक आलोचना भी लिखी है। डा० बा द विले ने मानस के अनुसंधान को एक नयी दिशा दी है।

पश्चिम जर्मनी और 'रामचरितमानस'

जर्मन विद्वान एवं नागरिक हिन्दी तथा 'रामचरितमानस' के बड़े ही अनुरागी हैं। विदेश में अमेरिका के पश्चात् सर्वाधिक हिन्दी अध्ययन-अनुशीलन का कार्य जर्मनी में सम्पन्न हुआ है। 'रामचरितमानस' के जर्मन भाषा में दो अनुवाद प्राप्य हैं। ये अनुवाद संग्रहग्रन्थों के रूप में हैं, उनमें मानस के कुछ विशिष्ट स्थलों के अनुवाद हैं। इस प्रकार का पहला अनुवाद 1925 ई० में बर्लिन से तथा दूसरा अनुवाद 1954 ई० में ब्रैसले से मुद्रित है। जर्मनी में मानस एवं भक्तिसाहित्य तथा हिन्दी व्याकरण संदर्भित विषयों पर अनेक विश्वविद्यालयीय अनुसंधित्सुओं द्वारा उल्लेखनीय गति से अध्ययन-अनुशीलन चल रहा है।

इटली और 'रामचरितमानस'

इटली में 'रामचरितमानस' के व्याख्यान-विवेचन का सराहनीय कार्य सुप्रसिद्ध भारत-प्रेमी डॉ० एल० पी० टेसीटरी द्वारा किया गया है। उनका शोधप्रबन्ध—जो 'रामचरितमानस'

और 'वाल्मीकि रामायण' के पारस्परिक सम्बन्ध पर आधारित है, सर्वप्रथम जियोरतल देल्ला सोसाइटी एशियाटिक इटालियन (भाग 24, 1911 ई०) में प्रकाशित हुआ था—सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य है। इसके अतिरिक्त इटली में ही प्रकाशित मानस-सम्बन्धी उनकी अन्य रचनाएँ ये हैं :

(1) भक्त और भक्तकवि तुलसीदास (रायल एकेडमी आफ आर्कियोलोजी वो० 3, 1914, पृ० 93-121) (2) तुलसीदास पर रामानुज एवं शंकराचार्य का प्रभाव (उदीने का एकेडमी में भाषण, 28 दिसम्बर, 1912)।

बेल्जियम और मानस

बेल्जियम देश में 'रामचरितमानस' के प्रचार-प्रसार की सबसे उद्दीप्त कीर्ति मनीषी फ़ादर कामिल बुल्के की 'मानस-सेवा' है। किस प्रकार वे जर्मन इनसाइक्लोपीडिया में प्रकाशित मानस की दिशा-निर्देशक पंक्तियों :

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू।।
चारि पदारथ करतल ता के। प्रिय पितु मातु प्राण सम जा के।।

के अनूदित रूप से मुग्ध हो 'रामचरितमानस' और हिन्दी के देश भारत आते हैं, हिन्दी के गहन अध्ययन-अनुशीलनपूर्वक मानस के महारथी बनते हैं और 'रामचरितमानस' की जन-मानस-विजययात्रा के समर्थ अलम्बरदार बनते हैं, यह तथ्य अब पूर्ण प्रचारित-प्रसारित कथा का रूप ले चुका है। निश्चय ही ऐसे संत मानस के प्राणवंत रूप ही हैं, जो इस प्रसादिक काव्य को जन-जन तक देश-विदेश में प्रसारित कर अपार पुण्यलाभ कर रहे हैं। संत बुल्के की सर्वविध उपेक्षित 'आदिवासी संथालों में मानस का प्रचार-प्रसार' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

हंगरी और मानस

हंगरी की सुप्रसिद्ध विदुषी श्रीमती इवा अरोदी की 'रामचरितमानस' प्रचार-प्रसार-सम्बन्धी सेवा स्तुत्य है। उनकी दृष्टि में "भक्तवर तुलसीदास का काव्य 'रामचरितमानस' हमारे नैत्यिक-नैमित्तिक जीवन का प्रतिबिम्ब है। गोस्वामी तुलसीदास की दृष्टि व्यक्तिगत साधनों के अतिरिक्त लोकपक्ष पर थी इसीसे वे मर्यादापुरुषोत्तम (राम) के चरित्र को लेकर चले और उसमें लोकरक्षा के अनुकूल जीवन की वृत्तियों का भी उत्कर्ष दिखाया और अनुरंजन किया है।" ऐसा दृढ़ अभिमत श्रीमती इवा और उनके सहयोगियों का है।

अलैक्सैई बरान्निकोव का रूस और 'रामचरितमानस'

महान भारतविद् श्री अलैक्सैई बरान्निकोव ने नये सोवियत के अभ्युदय के पश्चात् ही 1917 ई० में रूस में हिन्दी के प्रचार-प्रसार की सांस्कृतिक एकता का शुभारम्भ कर दिया था। जिस समय रूस द्वितीय विश्वयुद्ध की लपेट में त्रस्त था, ऐसे विकट काल में मानो 'धर्मरथ' का सम्बल लिये महान रूसी विद्वान श्री अ० बरान्निकोव ताशकन्द में परम विश्रामदायी 'राम-चरितमानस' के अध्ययन-अनुशीलन में रत थे और मानस का मार्मिक विद्वत्तापूर्ण अनुवाद कर रहे थे। यह महान कार्य 10 वर्षों की अटूट साधना के पश्चात् पूर्ण हुआ। उन्होंने इस अनुवाद की विस्तृत महत्त्वपूर्ण भूमिका (रूसी में) भी लिखी है। इस भूमिका द्वारा मानस के विश्वस-नीय सर्वोपयोगी दिव्य रूप का पता चलता है। 'आर्डर ऑव लेनिन' की महान उपाधि से सम्मा-नित इस विद्वान ने अपने इस कार्य के उपलक्ष्य में तमाम रूसी नागरिकों को मानस की इन

अमर पंक्तियों को अपने निजी संदेश के रूप में दिया है :

भलो भलाई पै लहै, लहै निचाई नीच।
सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीच।।

अमर साहित्य के प्रेमी महामानवतावादी टालस्टाय के रूस की शिक्षित काव्यप्रेमी जनता महाकवि निराला के 'तुलसीदास' की भी महत् प्रेमी है। अलैक्सैई बरान्निकोव के पुत्र साहित्य वाचस्पति पैंत्रोविच् बरान्निकोव भी पिता के पदचिह्नों पर चलकर तुलसी एवं हिन्दी की सराहनीय सेवा कर रहे हैं।

अमेरिका और 'रामचरितमानस'

आज विश्व में भारत के अलावा अमेरिका के सर्वाधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा एवं साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन सम्पन्न हो रहा है। सर्वप्रथम 1875 ई० में 'ए ग्रामर ऑफ़ हिन्दी लैंग्वेज' शीर्षक व्याकरण ग्रन्थ की रचना में मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के सिलसिले में तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का व्याकरणिक संदर्भ में उल्लेख हुआ। आज तो वहाँ विश्व-विद्यालयों में मध्यकालीन कृतियों के अध्ययन में तुलसी सर्वोपरि हैं। उनके मानस की व्याख्या-विवेचना निरन्तर गत्वर है। वहाँ का नवयुवा वर्ग भी तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का भक्त है। यह वर्ग मानस की व्याख्या-विवेचना की गहराई में जाकर तल्लीन होता है।

नेपाल और 'रामचरितमानस'

पड़ोसी देश नेपाल और भारत सांस्कृतिक-साहित्यिक दृष्टि से सर्वथा घने रूप से जुड़े हुए हैं। यहाँ पर तुलसीकृत रामायण एवं रामलीला का खूब प्रचार-प्रसार है। नेपाली भाषा में श्री कुलचंद्र गौतम ने मानस का अनुवाद किया है, जो ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, से प्रकाशित हो चुका है।

ईरान की भाषा फ़ारसी और 'रामचरितमानस'

इसी संदर्भ में हम इस तथ्य पर भी प्रकाश डालना चाहते हैं कि 'रामचरितमानस' के विदेशी भाषा फ़ारसी के चार अनुवाद हैं। प्रथम अनुवाद (सन् 1804 ई०) हस्तलिखित रूप में श्री देवीदास कायस्थकृत है, जो ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन, में सुरक्षित है। दूसरा अनुवाद श्री मन्नालाल कायस्थकृत है। यह हस्तलेख 1884 ई० का है। तीसरा हस्तलिखित रूप में फ़ारसी-अनुवाद श्री रामसरनसिंहकृत है, जो 1902 ई० में कानपुर से प्रकाशित हुआ है। चौथे अनुवाद के रचयिता हैं हरलाल रुसवा, यह 1885 ई० में लखनऊ से प्रकाशित हुआ था।

अन्य देश और 'रामचरितमानस'

दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों—बर्मा, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड—में रामकथा चिरकाल से व्याप्त है। इन देशों में 'रामचरितमानस' का भी प्रचार-प्रसार यहाँ के भारत मूल के लोगों द्वारा निरंतर वर्द्धमान होता रहा है। बर्मा में 'रामचरितमानस' बर्मी भाषा में उपलब्ध है। यहाँ इसका प्रचार-प्रसार बर्मी भाषा के किसी सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ के समान ही है। चीन और जापान के हिन्दीविद् साहित्य-प्रेमियों द्वारा मानस की व्याख्या-विवेचना निरन्तर गति-मान है।

मोरिशस, फ़िजी, गुयाना आदि 'रामचरितमानस' की प्राणभूमि हैं। भारतमूल के

प्रवासीजन मोरिशस, फ़िजी, गुयाना आदि देशों में बसे हुए हैं। वहाँ वे गिरमिटिया मज़दूर के रूप में तुलसीकृत इसी रामायण की थाती लेकर गये थे और इसी आध्यात्मिक ग्रंथ के सम्बल के द्वारा हर दारुण स्थिति में विजयी रहे और निश्शंक वे आज भी 'रामचरितमानस' और 'हनुमानचालीसा' के सच्चे प्रेमी, अनुशीलनकर्त्ता, श्रद्धालु एवं प्रचारक-प्रसारक हैं। उनकी राम-चरितमानसमयता का वृत्तांत एक पृथक् अध्याय के रूप में वर्णनीय है।

इसी संदर्भ में हम अपने देश के प्रख्यात रामायणियों के द्वारा किये विश्वव्यापी मानस-प्रचार-प्रसार का भी उल्लेख करना चाहते हैं। जिनके द्वारा अमेरिका, इंग्लैण्ड, दक्षिण पूर्व एशिया, मोरिशस, फ़िजी, गुयाना आदि देशों में नवयुवाओं को भी रामचरितमानस की अमर कथा एवं विश्वमोहिनी कीर्ति मुग्ध-मोहित कर रही है। यह तथ्य 'रामचरितमानस' के विराट् गरिमामय सार्वकालिक स्वरूप का ही प्रकाशक है। निश्चय ही इस संदर्भ में रामकथा-साहित्य के महान विद्वान संत फ़ादर कामिल बुल्के की पंक्तियाँ सटीक ठहरती हैं कि "आदिकवि वाल्मीकि और 'रामचरितमानस' के रचयिता संत कवि तुलसीदास के समान कोई महान कवि नहीं हुआ। इन दोनों कवियों की भाषाशैली में सम्प्रेषणीयता का अद्भुत गुण है। दोनों की रचना का उद्देश्य विश्वजनीन हित है। किसी धर्म या सम्प्रदाय की सीमा में न रहने वाली ये रचनाएँ आज विश्व को इतना अधिक प्रभावित कर रही हैं।" हमारी समझ में इससे बढ़कर विश्वसंदर्भ में 'रामचरितमानस' की संस्तुति अन्य कोई नहीं होगी। □



खरदूखन

भारतेंदु जी के दिनों में रामनगर (तब बनारस राज्य की राजधानी) में काशिराज की बड़ी धूमधामी रामलीला हुआ करती। भारतेंदु वहाँ नित्य जाया करते थे।

रामनगर काशी के उस पार गंगा तट पर है, जहाँ प्रायः लोग नाव से आते-जाते हैं। जब भारतेंदु जी नाव से लौट रहे थे, तो उन्होंने और उनके साथियों ने देखा कि काशी के एक मनचले दलाल एक नाव पर बड़े ठाट-बाट से जमे हैं। पूरा राजसी स्वाँग है—मसनद-तकिया, पानदान, उगालदान, खवास इत्यादि। भारतेंदु के मुँह से बेसाख्ता निकल पड़ा, "अभी आप लोग भगवान रामचन्द्र की सवारी देख आये हैं, अब खरदूखन की सवारी भी देख लीजिये।"

लोगों को भारतेंदु जी की यह फबती ऐसी जंची कि वे खरदूखन का जैकारा लगा उठे। उस दलाल के चिढ़ने से उन लोगों का और भी उद्दीपन हुआ। फिर तो कुछ दिनों में लोग उसका प्रकृत नाम तक भूल गये और वह आजीवन खर-दूखन दास के नाम से ही प्रसिद्ध रहा।



हिन्दीतर भाषी प्रदेशों में हिन्दी : कुछ सुझाव

प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी

□□

इस बात में दो मत नहीं हो सकते कि भारत की एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए एक संपर्क भाषा की आवश्यकता है। हमारे संविधान में हिन्दी को राजभाषा के रूप में मान्यता मिली हुई है लेकिन सरकार की मान्यता के अलावा जनता की स्वीकृति की मुहर भी उतनी ही आवश्यक है। कई ऐतिहासिक एवं राजनीतिक कारणों के परिणामस्वरूप हमारे देश की राजभाषा का स्थान अंग्रेज़ी को मिला हुआ है। आज भी उसीके द्वारा केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अधिकांश कार्यकलाप चलाये जा रहे हैं। देश को इस अवस्था से मुक्त कर हिन्दी को राजभाषा के आसन पर आसीन करने के लिए देश में विशेषकर हिन्दीतर प्रांतों में हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार करना बहुत ही आवश्यक है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत सरकार ने हिन्दीतर प्रांतों में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिए विविध योजनाओं को आरम्भ किया, जिनके अंतर्गत केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, केंद्रीय हिन्दी संस्थान तथा केंद्रीय शिक्षण प्रणाली (सेंट्रल हिन्दी टीचिंग स्कीम) आदि की स्थापना हुई है। उक्त तीनों प्रमुख संस्थानों की स्थापना का परम उद्देश्य क्रमशः भारत के हिन्दीतर प्रांतों में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार, हिन्दीतर भाषी प्रांतों के हिन्दी प्राध्यापकों के प्रशिक्षण तथा हिन्दीतर प्रांतों के केंद्रीय सरकार के कर्मचारियों को हिन्दी सिखाना आदि रहा है। हिन्दीतर प्रांतों में राज्य सरकारों द्वारा भी हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार को काफ़ी सहयोग मिला। लेकिन इन योजनाओं की सक्रियता में पंगुपन आ जाने के कारण तथा राज्य सरकारों के द्वारा प्रांतीय भाषाओं को अधिक मान्यता दी जाने के कारण हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में कई प्रकार के अवरोध उत्पन्न हो रहे हैं। अतः हिन्दीतर प्रांतों में हिन्दी के प्रचार में जो-जो उलझनें सामने आ रही हैं उनको दृष्टि में रखकर भारत सरकार को अपनी योजनाओं की रीति-नीति कुछ बदलनी चाहिए।

दक्षिण भारत की अपेक्षा शेष भारत के हिन्दीतर प्रांतों में हिन्दी का प्रचार और प्रसार सुगम है। दक्षिण में तमिलनाडु को छोड़कर शेष तीनों सरकारें हिन्दी के प्रचार व प्रसार में अधिक दिलचस्पी न लेने पर भी कोई अड़चन उपस्थित नहीं कर रही हैं। हां, इतना अवश्य है कि ये राज्य सरकारें प्रादेशिक भाषाओं को मान्यता देने के कारण हिन्दी के प्रचार और प्रसार में पहले से कुछ कम क्रियाशील जान पड़ती हैं।

भारत स्वतंत्र होने के बाद दक्षिण के चारों भाषा प्रदेशों के स्कूलों में हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य बना दिया गया। इसके पीछे केंद्रीय शासन की शिक्षानीति और हमारे संविधान में हिन्दी को दिया गया स्थान और दक्षिण में हिन्दी-प्रचार के क्षेत्र में कार्यकर्ताओं द्वारा तैयार की

हुई पृष्ठभूमि—तीनों का योग रहा है। केंद्र की नीति यह रही कि दक्षिण के हर एक स्कूल में हिन्दी अध्यापक की नियुक्ति हो और उस अध्यापक के वेतन का पूरा भार पाँच वर्षों तक केंद्रीय सरकार ही वहन करे। पाँच साल के बाद उसका सारा वेतन राज्य सरकार दे। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि आंध्र तथा केरल के लगभग सभी प्राइमरी तथा हाई स्कूलों में हिन्दी का प्रवेश हुआ, यानी अध्यापकों की नियुक्ति हुई। तमिलनाडु की स्थिति कुछ भिन्न हो गयी है। यहाँ कालेज एवं विश्वविद्यालयों में भी वह वांछित स्थान न पा सकी।

अब रही अध्यापकों के प्रशिक्षण की बात। आंध्र, केरल तथा कर्नाटक में हिन्दी प्रशिक्षण विद्यालय चल रहे हैं। इनमें वहाँ के स्कूलों के अध्यापक प्रशिक्षित हो रहे हैं। इस क्षेत्र में यानी प्रशिक्षण संस्थानों में जो अध्यापक भेजे जा रहे हैं, उनका सारा व्यय यानी उनके स्थान पर नियुक्त होने वाले अन्य अध्यापक का वेतन तथा प्रशिक्षणार्थी की छात्रवृत्ति केंद्रीय सरकार से प्राप्त होनी चाहिए। यह खासकर दक्षिण भारत के लिए इसलिए लागू हो, क्योंकि आर्यभाषी हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रदेश से बढ़कर द्रविड़ भाषा-भाषी हिन्दीतर प्रदेशों में हिन्दी के पठन-पाठन की समस्याएँ अधिक जटिल हैं। केंद्रीय सरकार की नीति सभी हिन्दीतर भाषी प्रदेशों के लिए एक-सी रही है। इस नीति में परिवर्तन आना नितांत आवश्यक है।

हिन्दी को लोकप्रिय बनाने के लिए हिन्दी की पठन-सामग्री पर भी यथेष्ट ध्यान देना आवश्यक है। स्कूलों में हिन्दी पठन-सामग्री का राष्ट्रीयकरण हो गया है। प्राइमरी स्कूल, हाई स्कूल तथा कालेजों के अध्यापकों की सम्मिलित समितियों द्वारा हिन्दी की 'रीडरें' तैयार की जा रही हैं। इन रीडरों पर राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान परिषद की समालोचना भी प्राप्त की जा रही है। लेकिन इन रीडरों को, हिन्दीतर प्रांतों के विद्यार्थियों के लिए और भी चित्ताकर्षक, वैज्ञानिक एवं उपयोगी बनाया जा सकता है।

एस० एस० एल० सी० या दसवीं कक्षा पास होने पर विद्यार्थी पी० यू० सी० अथवा इंटर में प्रवेश करते हैं। केरल में एस० एस० एल० सी० में हिन्दी के परचे में 35 प्रतिशत अंक पाना समूची परीक्षा में उत्तीर्णता के लिए आवश्यक है। आंध्र में ये अंक बहुत कम हैं और कर्नाटक में तो नाममात्र के लिए अंक पाना उत्तीर्णता के लिए पर्याप्त है।

इस कारण से पी० यू० सी० अथवा इंटर में आने वाले हिन्दी विद्यार्थियों का हिन्दी-ज्ञान समान स्तर का न होकर भिन्न-भिन्न स्तरों का हुआ करता है। कई विद्यार्थी नागरी अक्षर तक शुद्ध रूप से नहीं लिख पाते। कई लड़के हिन्दी ठीक नहीं पढ़ सकते। कई लड़के शुद्ध लिख पाते हैं और पढ़ भी पाते हैं। इन सब लड़कों को एक वर्ग में बिठाकर पढ़ाना एक बड़ी समस्या बन जाती है। यदि विद्यार्थियों की संख्या काफ़ी हो तो उनको हिन्दी जानकारी के आधार पर अलग-अलग उपवर्ग बना सकते हैं। किंतु उनकी संख्या एक वर्ग के लिए ही मुश्किल से पर्याप्त होती है। तब इस समस्या को कैसे हल किया जाये? हमारे इन दिनों के एम० ए० उपाधिधारी, जो बी० एड्० या अन्य प्रकार से प्रशिक्षित नहीं हैं, इंटर वालों के अध्यापक बनकर आते हैं। भिन्न-भिन्न स्तर वाले छात्रों को पढ़ाने का उनका ढंग हास्यास्पद-सा लगता है। अतः पी० यू० सी० अथवा इंटर की कक्षाओं के लिए हिन्दी कितनी और कैसी पढ़ाई जाये इसपर गंभीरता से विचार करने का समय आ गया है, क्योंकि इसी स्तर के लोग आगे चलकर डिग्री कक्षाओं में प्रवेश पाते हैं।

स्नातक कक्षाओं में हिन्दी पढ़ाये जाने का उद्देश्य यह होना चाहिए कि साधारण डिग्री का लड़का कोई साधारण विषय—चाहे साहित्यिक हो, चाहे साहित्येतर, चाहे विज्ञान-संबंधी हो या वाणिज्य-संबंधी हो—आसानी से हिन्दी में अभिव्यक्त कर सके।

आंध्रप्रदेश में हायर सेकंडरी कक्षा यानी बारहवीं कक्षा तक हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जाती थी और उसमें उत्तीर्णांक प्राप्त करना भी आवश्यक था। लेकिन राज्य सरकार की शिक्षानीति में परिवर्तन के फलस्वरूप हायर सेकंडरी के स्थान पर आज जो इंटर की कक्षाएँ चल रही हैं उनमें हिन्दी को वैकल्पिक विषय बना दिया गया है। इससे अधिकतर विद्यार्थी मातृभाषा की ओर आकृष्ट हो रहे हैं और इस तरह हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में बाधा उपस्थित हो रही है। इसी प्रकार स्नातक स्तर में बी० कॉम० में हिन्दी अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाई जाती थी, लेकिन आज वैकल्पिक विषय बन गयी है।

स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों में गांधी जी के प्रभाव में आकर हिन्दी-प्रचारकों ने तथा प्रचारक संस्थानों ने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर निःस्वार्थ रूप से हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार किया। आज इसी निष्काम भावना का लोप हो जाना हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिए एक अवरोध बन गया है। इन प्रचारकों की तथा प्रचार संस्थाओं की क्रियाशीलता शिथिल होने के कारण हिन्दी के प्रचार में बाधा उपस्थित हो गयी है।

हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार में सबसे बाधक एवं कटु समस्या है, रोज़गार की। आज दक्षिण के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में हिन्दी के स्नातकोत्तर एवं अनुसंधान विभाग चल रहे हैं। प्रतिवर्ष प्रत्येक विश्वविद्यालय से लगभग 30-40 विद्यार्थी एम० ए० (हिन्दी) की उपाधियाँ प्राप्त कर रहे हैं। ये लोग अपनेको अन्य विषयों में एम० ए० पाने वालों की तुलना में अधिक पीड़ित समझ रहे हैं, क्योंकि इन्होंने हिन्दी को अपना विषय चुना है। दक्षिण में हिन्दी के स्नातक हिन्दी से संबंधित नौकरियों के अतिरिक्त कौन-सी नौकरियाँ प्राप्त कर सकते हैं ?

इधर प्रादेशिक भाषाओं को महत्ता देने के लिए हिन्दी को अनिवार्य विषय से हटाकर वैकल्पिक विषय बनाये जाने से हिन्दी पढ़ने वालों की संख्या घटने लगी है और कई हिन्दी के प्राध्यापकों को अपनी नौकरियों से हाथ धोना पड़ रहा है। ऐसी संकट की स्थिति में हिन्दी उपाधिधारी भी हिन्दी-संबंधी नौकरियाँ न मिलने पर कहीं लिपिक या अंग्रेज़ी टंकक या अपनी स्नातक उपाधि के आधार पर किसी स्कूल में अंग्रेज़ी या गणित या विज्ञान के अध्यापक बनकर अपनी आजीविका कमा रहे हैं। इनकी हिन्दी की उपाधियाँ इनके क्या काम आयीं ? जब इस तरह हिन्दीतर प्रांतों में हिन्दी पढ़ना एक अभिशाप सिद्ध हो रहा है तब हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार कैसे संभव हो सकेगा ?

जब पढ़े-लिखे हिन्दी के स्नातकोत्तर उपाधिधारी हिन्दीतर प्रांतों में मौजूद हैं तो केंद्रीय हिन्दी प्रशिक्षण प्रणाली (सेंट्रल हिन्दी टीचिंग स्कीम) जैसी हिन्दी-संबंधी नौकरियाँ हिन्दीतर प्रांतों में उन्हीं प्रांत वालों को दी जानी चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से हिन्दी सीखने वाला अपनी मातृभाषा की सापेक्षता में हिन्दी का अध्ययन कर सकता है। ऐसा न होने पर हिन्दी सीखने वाले के मन पर उल्टा प्रभाव पड़ने की और हिन्दी के प्रति उसके मन में उदासी छाने की भी संभावना है।

उक्त उलझनों को दृष्टि में रखते हुए हिन्दी के प्रचार को सुगम बनाने और भारत की एकता को सुदृढ़ बनाने के लिए तथा हिन्दी को राजभाषा के पद पर अधिष्ठित करने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है।

पहली बात यह है कि हिन्दीतर प्रांतों के लोगों के मन में यह शंका बराबर बनी रहती है कि हिन्दी यदि सारे भारत में छा जायेगी तो प्रादेशिक भाषाओं का तथा उनके साहित्यों का क्या होगा ? अत. प्रादेशिक भाषाओं के अपने अलग महत्त्व को साबित करना नितांत आवश्यक है। प्रदेशिक भाषा-साहित्य तथा हिन्दी साहित्य के बीच अनुवादों के द्वारा यथेष्ट मात्रा में आदान-

प्रदान हो तो इस उलझन से बच सकते हैं।

दूसरी बात यह है कि हिन्दीतर भाषियों की सर्जनात्मक एवं आलोचनात्मक प्रतिभा को प्रोत्साहन दिया जाये जिससे कि उन प्रांतों की संस्कृतियाँ हिन्दी के माध्यम से व्यक्त हो सकें और भारत की सामासिक संस्कृति के निर्माण में सहायक हो सकें।

तीसरी बात यह है कि हिन्दीतर प्रांतों में पढ़ने वाले हिन्दी के सभी योग्य विद्यार्थियों को तथा शोधार्थियों को छात्रवृत्तियों के द्वारा प्रोत्साहन दिया जाये और हिन्दी का अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् उनके लिए केंद्रीय सरकार की नौकरियों में नियमित रूप से कुछ नौकरियाँ दी जायें। हिन्दीतर प्रांतों के हिन्दी स्नातकों की रोज़गार की समस्या को हल करने के लिए विशेष योजनाएँ बनायी जायें जिससे हिन्दी का भी प्रचार एवं प्रसार सुगमता से हो सके।

चौथी बात यह है कि केंद्रीय सरकार में हिन्दीतर प्रांतों के अनुभवी हिन्दी विद्वानों को चुनकर उनके अनुभवों से लाभ उठाया जाये।

पाँचवीं बात यह है कि केंद्रीय सरकार ने भारत में ही नहीं, विश्व के अन्य कई देशों में भी हिन्दी के प्रचार और प्रसार करने के लिए प्रथम और द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलनों में निर्णय लेने के बावजूद केंद्रीय सरकार के गृहमंत्रालय में हिन्दी सलाहकार का पद कई सालों से रिक्त पड़ा हुआ है। इसका कारण हमें समझ में नहीं आता। इस संदर्भ में उक्त पद पर एक अनुभवी हिन्दीतर भाषी हिन्दी विद्वान की सेवाएँ पूर्णरूप से लेना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि हिन्दी के प्रचार व प्रसार की समस्याओं से वे ही भली भाँति परिचित रहते हैं।

हिन्दी के प्रचारकार्य को सुचारु ढंग से कार्यान्वित करने के लिए ध्यान देने योग्य प्राथमिक बात यह है कि दक्षिण भारत में भी 'केंद्रीय हिन्दी निदेशालय' की एक शाखा की स्थापना हो और सारे देश में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार-संबंधी संस्थाओं की बागडोर हिन्दीतर प्रांतों के अनुभवी विद्वानों के हाथों में सौंपी जाये क्योंकि वे ही लोग देश में विशेष रूप से हिन्दीतर प्रांतों में हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार की दिशा में उपस्थित होने वाली अड़चनों को भली भाँति समझकर उन्हें दूर करने में समर्थ हो सकते हैं। □



इक़बाल की उदारता

वकालत के ज़माने में डॉ० इक़बाल लाहौर की जिस कोठी में रहते थे, वह एक विधवा की सम्पत्ति थी। कोठी एकदम पुरानी और टूटी-फूटी थी, मगर किराया 175 रु० मासिक था।

लोगों ने इक़बाल से कहा कि इतने किराये से तो इससे कहीं अच्छी कोठी किराये पर मिल सकती है। उनका उत्तर था, "जिसकी यह कोठी है वह एक ग़रीब बेवा औरत है। कोठी के किराये पर ही उसकी गुज़र-बसर हो रही है। मैं तो दूसरी कोठी ले सकता हूँ लेकिन इस बेवा औरत को फिर कोई पौने दो सौ रुपया देने वाला किरायेदार नहीं मिलेगा।"



भाषा-संकल्प

डॉ० जगदीश गुप्त

□□

सब जानते हैं
स्त्रियों की भाषा
होती तो है निषेधात्मक
पर उसमें स्वीकृतिभी रहती है;

और पुरुषों की भाषा
यों तो संकल्पात्मक होती है
पर उसमें विकल्प भी रहते हैं

इस दोहरी गति से
ऊपर उठती है
कवि की भाषा
जिसमें अन्तर की आँख बोलती है
और खोलती है—
दृश्य-जगत् के पीछे छिपे
मन के निगूढ़ पट।

द्वारों के भीतर द्वार
ज्वारों के भीतर ज्वार
एक लहराता हुआ अकाल-समुद्र,
जो मन से उपजता है
और मन में ही समा जाता है
सारी संसृति अपने में समोकर।

विधाता की सृष्टि-सा
नित्य, निर्लिप्त, निबंध,
फिर भी किन्हीं संवेदनशील

आन्तरिक नियमों से बँधा हुआ
मानव से मानव का
रचना-सम्बन्ध

व्यापार की निर्वैयक्तिक भाषा से
एकदम अलग
नितान्त सम्पृक्त
व्यक्ति को, व्यक्ति-व्यक्ति को, पुकारता-सा
अलक्षित, फिर भी प्रगाढ़ अनुबन्ध
सामूहिक मानस को
अपने में भरती हुई भाषा
समाज की अतल गहराइयों को छूकर भी
चढ़ी नदी के पार उतरती हुई भाषा
आईने-सी,
शब्दों में सब कुछ प्रतिबिम्बित करती हुई भाषा

मैं अवाक् हूँ
वाक् की इस अप्रतिम छवि को देखकर;
कृतार्थ होना चाहता हूँ—
पुन: वागर्थ को
अर्धनारीश्वर के रूप में लेख कर।



मार्कट्वेन बनाम बर्नार्ड शॉ

हाइड पार्क में एक भाषण का प्रोग्राम था। अमेरिका के मार्कट्वेन आये हुए थे। उनके भाषण के बाद युवक जार्ज बर्नार्ड शॉ का प्रोग्राम था। उन्होंने सोचा—आज ऐसा भाषण दूंगा कि मार्कट्वेन भी याद करेंगे।

लेकिन ज्यों ही वह मंच पर आये त्यों ही देखा कि मार्कट्वेन अपनी कार पर बैठकर चले जा रहे हैं। बेचारे दिल मसोस कर रह गये।

इस घटना के पच्चीस वर्ष बाद पुन: वैसा मौक़ा मिला और इस बार मार्कट्वेन के पहले उन्होंने भाषण दिया। पूरे दो घंटे तक सारगभित भाषण देने के बाद वे मार्कट्वेन के पास आये और पूछा, "कैसा रहा मेरा भाषण ?"

तभी लोगों से मालूम हुआ कि मार्कट्वेन तो पन्द्रह वर्ष से बहरे हैं।



प्रवासी भारतीयों में स्वभाषा के प्रचारक भवानीदयाल संन्यासी

कन्हैयालाल आर्य

□□

हिन्दुस्तान से बाहर विदेशों में जाकर बसने वाले प्रवासी भारतीयों की सेवा जिन महानुभावों ने की उनमें स्वर्गीय स्वामी भवानीदयाल जी संन्यासी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वैसे तो स्वामी जी की सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक सेवाएँ अवर्णनीय हैं ही, लेकिन प्रवासी भारतीयों—विशेषतः दक्षिण अफ्रीका में बसने वाले प्रवासी भारतीयों—के उत्थान और उनके कष्टों के निवारणार्थ जो त्याग और तपस्या स्वामी जी ने की और जो कष्ट सहे, वह उनके संन्यासी जीवन की अमूल्य निधि है। इसका स्मरण भारत की भावी पीढ़ी को सदा प्रेरणा प्रदान करता रहेगा।

स्वामी जी का जन्म सन् 1892 की 10 सितम्बर को अफ्रीका के सुवर्ण नगर जोहान्सबर्ग में हुआ था, जिसको विश्ववन्द्य महात्मा गांधी ने सर्वप्रथम सत्याग्रह का स्थान चुना था। यहाँ पर स्वामी जी के पिता बाबू जयरामसिंह बिहार प्रान्त के शाहाबाद जिले से आर्थिक दुरवस्था के कारण अराकाटियों के चंगुल में फंसकर भारतीय 'शर्तबन्दी कुली' के रूप में श्रीमती मोहिनी देवी सहित डरबन के डिपो में पहुंचाये गये और कुली प्रथा की पाँच साल की अवधि समाप्त कर कठोर परिश्रम से अपनी प्रतिष्ठा में वृद्धि की। उन्होंने सार्वजनिक कार्यों में दिलचस्पी ली, जिसके कारण उन्हें गांधी जी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गांधी जी उन्हें जयराम भाई और वे उन्हें गांधी भाई कहकर सम्बोधित करते थे। सारांश कि स्वामी जी को बाल्यावस्था से ही बापू का आशीर्वाद और स्नेह प्राप्त था, जो उनके जीवन के अन्तिम क्षण तक मिलता रहा।

1904 में स्वामी जी को अपने पिता के साथ अपनी पितृभूमि बिहार के बहुआरा ग्राम में दर्शनार्थ आने का सुअवसर प्राप्त हुआ और यहीं पर श्रीमती जगरानी देवी के साथ आपका परिणय भी हुआ। लेकिन जिन आशा और आकांक्षाओं को लेकर वे यहाँ आये थे वे सब निराशा में परिवर्तित हुए तथा पिता की मृत्यु और पारिवारिक कलह से परेशान हो पुनः अफ्रीका जाने के लिए बापू से प्रार्थना की। बापू की स्वीकृति और आदेशानुसार दक्षिण अफ्रीका को प्रस्थान कर दिया।

उन दिनों दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा हुआ था। अतः डरबन बन्दरगाह पर पहुंचने के साथ ही उन्हें स्टीमर पर ही रोक दिया गया और वापस हिंदुस्तान लौटने को बाध्य किया गया। लेकिन गांधी जी के आदेशानुसार पोलक साहब ने कानूनी कार्यवाही करके स्वामी जी को इस कठिनाई से मुक्त किया।

नेटाल पहुँचने पर स्वामी जी बापू के दर्शनार्थ फ़िनिक्स आश्रम गये। जहाँ पर उन्होंने

गांधी जी को आधी बाँह का कुरता पहने खेत में कुदाल चलाते हुए देखा और इसके कारण स्वामी जी के जीवन में एकदम परिवर्तन आया। उसी समय बापू ने उन्हें जीवन की ओर अग्रसर होने की सलाह दी। स्वामी जी ने परिश्रम को हमेशा प्राथमिकता दी अतः अपनी आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण उन्होंने धोबी का धंधा शुरू कर दिया। लेकिन जनरल स्मट्स की प्रवासी भारतीयों के प्रति शोषण और उत्पीड़न नीति ने स्वामी जी के हृदय में क्रान्ति की ज्वाला को प्रज्वलित किया और 1913 में जब महात्मा गांधी के नेतृत्व में प्रथम सत्याग्रह नेटाल में प्रारम्भ हुआ, उसमें उन्होंने अपनी पत्नी सहित भाग लिया और जेल की कठोर यातनाओं को सहा।

जेल से छूटने के बाद स्वामी जी ने बापू के आदेशानुसार फ़िनिक्स आश्रम में 'इंडियन ओपिनियन' के हिन्दी विभाग का सम्पादन शुरू कर दिया। इसके सम्पादक महात्मा गांधी और पोलक जैसे विश्व-विश्रुत पत्रकार थे। 'इंडियन ओपिनियन' जिसके सम्पादक व संस्थापक महात्मा गांधी थे उसका सम्पादन करना कोई साधारण बात नहीं थी क्योंकि वहाँ पर कम्पोज करना, हाथ से मशीन चलाना और छपाई करना आदि सारे ही कार्य सम्पादक को करने पड़ते थे।

गांधी जी के भारत आ जाने पर स्वामी जी एकमात्र वहाँ के सर्वाधिक लोकप्रिय पथ-प्रदर्शक नेता बने। उन्होंने अपने सभापतित्व में दक्षिण अफ्रीका की कांग्रेस को इतना शक्ति-शाली बना दिया कि दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार भी कांग्रेस के नाम से दहलने लग गयी थी। स्वामी जी प्रायः भारत में अखिल भारतीय कांग्रेस के होने वाले अधिवेशनों में प्रवासी भारतीयों के दुःख-दर्द की समस्याओं को लेकर आते और उन्हें कांग्रेस के होने वाले खुले अधि-वेशनों में सभ्य संसार के सामने प्रस्तुत करते थे।

1919 में आप भारत आये, और अमृतसर कांग्रेस में प्रवासी भारतीयों की दुःखभरी कहानी को रखा और वहीं से पटना के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में, जिसके कि स्वागत मन्त्री बिहार की विभूति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी थे, भाग लेकर दक्षिण अफ्रीका को वापस प्रस्थान किया। लौटते समय भारत के उच्चकोटि के साहित्यिक पत्रकार एवं प्रवासी भारतीयों के हितैषी पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी जी से भेंट की। उसके बाद उन्हें 1925 ई० में कानपुर कांग्रेस में भाग लेने, और लार्ड रीडिंग से प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध में मिलने और प्रवासी भारतीयों के सम्बन्ध में लोकमत को जाग्रत् करने के लिए भारत में आना पड़ा।

1927 में अपनी पत्नी के अवसान के पाँच वर्ष बाद 35 वर्ष की अवस्था में उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। प्रवासी भारतीयों में स्वामी भवानीदयाल संन्यासी पहले भारतीय संन्यासी थे, जिन्होंने अपनी आयु का सम्पूर्ण भाग प्रवासी भारतीयों एवं जनता की सेवा में बिताया।

1929 के अन्त में उपनिवेशों से लौटे हुए प्रत्यागत प्रवासी भारतीयों की परिस्थिति की जाँच के लिए जब स्वामी जी को भारत आना पड़ा, उसी समय स्वतन्त्रता-संग्राम का बिगुल बजा, और स्वामी जी को शाहाबाद ज़िला कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष पद का भार सौंपा गया। उस समय आपने बिहार में ऐसी जागृति पैदा की कि गांधी जी को भी उसकी प्रशंसा करनी पड़ी। उन्हें गिरफ्तार कर हजारीबाग जेल में ले जाया गया जहाँ पर डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी आदि बिहार के नेतागण मेहमान बने हुए थे। वहाँ पर आपको ढाई साल की सज़ा दी गयी। लेकिन गांधी-इरविन समझौते के कारण आप 12 महीने बाद ही जेल से मुक्त कर दिये गये।

सांस्कृतिक तथा सामाजिक सुधार के कार्यों में स्वामी जी हमेशा अग्रणी रहे। उन्होंने बिहार के अतिरिक्त दक्षिण अफ्रीका में नेटाल आर्यप्रतिनिधि सभा की स्थापना की और उसके अध्यक्ष पद से विश्व के कोने-कोने में वैदिक धर्म के सन्देश को पहुँचाकर प्रवासियों को भारतीय

संस्कृति की ओर आकृष्ट किया। वे वर्णव्यवस्था और जात-पाँत के कट्टर विरोधी थे।

राजनीति में रहते हुए भी स्वामी जी ने साहित्य के प्रणयन और उन्नयन को नहीं भुलाया। उन्होंने साहित्य के भंडार में अभिवृद्धि करने के लिए अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी साहित्य सम्मेलन की स्थापना की, जिसके दो अधिवेशन भी हुए, जिनमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों के हज़ारों प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसके कारण जर्मिस्टन, ट्रान्सवाल में हिन्दी प्रचारिणी सभा और हिन्दी पाठशालाओं की स्थापना हुई।

स्वामी जी ने राष्ट्रभाषा हिन्दी की उपेक्षा को कभी सहन नहीं किया। उन्होंने हिन्दी के हितार्थ बड़े से बड़े व्यक्ति का भी विरोध करने में कभी संकोच नहीं किया, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण साउथ अफ्रीकन इंडियन कांग्रेस का किम्बरले अधिवेशन में श्रीनिवास शास्त्री का वक्तव्य है, जो 1928 के 'मॉडर्न रिव्यू' में प्रकाशित हुआ कि "किम्बरले कांग्रेस के अधिवेशन में भारतीय भाषाओं के लिए प्रशंसनीय एवं सफल संघर्ष करने के लिए स्वामी भवानीदयाल संन्यासी हमारी हार्दिक बधाई के पात्र हैं।" शास्त्री जी ने दक्षिण अफ्रीका की भावनाओं के सामने अपना सर झुकाते हुए यह वक्तव्य दिया था।

स्वामी जी ने पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करने में दो दर्जन पुस्तकों का प्रणयन किया। उनकी चर्चित पुस्तक 'प्रवासी की आत्मकथा' की भूमिका में स्व० राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद जी ने लिखा कि "इतिहास और आत्मकथा होने के साथ-साथ यह पुस्तक सुन्दर साहित्यिक कृति भी है, जिसमें ऐसा मसाला मिलेगा, जो शायद कहीं अन्यत्र, खासकर हिन्दी में नहीं मिलेगा..." तभी तो पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने स्वामी जी को 'विशाल भारत' के निर्माताओं की द्वितीय श्रेणी में गणना करते हुए महात्मा गांधी, कवीन्द्र रवीन्द्र और दीनबन्धु एण्डरूज के बाद सम्बोधित किया।

स्वामी भवानीदयाल संन्यासी निर्भीक, निष्ठावान एवं क्रान्तिकारी पत्रकार थे। उन्होंने 'आर्यावर्त',पटना तथा दक्षिण अफ्रीका में हिन्दी साप्ताहिक 'धर्मवीर' का सम्पादन किया। हजारीबाग जेल में आपने 'कारागार' नामक मासिक हस्तलिखित पत्र का प्रकाशन किया। इसमें डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी आदि बिहार के सभी नेताओं के लेख होते थे। इसके 1200 पृष्ठों के तीन अंक—क्रमशः 'कृष्णांक', 'दीपावली अंक' और 'सत्याग्रह अंक' सम्पादित करके ही उन्होंने साँस लिया। इसके अतिरिक्त स्वामी जी अखिल भारतीय हिन्दी सम्पादक मण्डल, कलकत्ता, के सभापति और बिहार प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन (देवघर) के सभापति निर्वाचित किये गये तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के स्वर्ण जयन्ती महोत्सव के सभी उत्सवों के वे स्थायी अध्यक्ष रहे।

अपनी आयु का अधिकांश भाग प्रवासी भारतीयों की सेवा में बिताकर अपने जीर्ण-शीर्ण शरीर को लेकर स्वामी जी हमेशा के लिए दक्षिण अफ्रीका से बिदा लेकर 1941 में मातृभूमि की गोद में आकर आदर्शनगर, अजमेर, में 'प्रवासी भवन' का निर्माण शान्ति से अपने जीवन का सन्ध्याकाल बिताने के लिए किया। लेकिन प्रवासी भारतीयों के आर्तनाद ने प्रवासी भवन में भी उन्हें शान्ति से नहीं रहने दिया। फलतः प्रवासी भवन में ही 'नेटाल इंडियन कांग्रेस' का कार्यालय स्थापित कर प्रवासी भारतीयों पर अत्याचारों की गुहार मचाने के लिए 'प्रवासी पत्र' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया, जिसका सम्पादन उन्होंने जीवन के अन्तिम क्षण तक रोग-शय्या पर होते हुए भी किया।

स्वामी जी द्वारा की गयी हिन्दी की सेवाओं से ऋणमुक्त होने के लिए अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के हैदराबाद में होने वाले अधिवेशन ने आपको 'साहित्य वाचस्पति' की

उपाधि से अलंकृत करने के लिए आमन्त्रित किया, परन्तु उस समय स्वामी जी रोगशय्या पर होने के कारण हैदराबाद न जा सके, अतः मृत्यु के कुछ समय पूर्व ही वह उपाधि सम्मेलन ने पोस्ट द्वारा स्वामी जी के पास भेज दी।

आज स्वामी जी इस लोक में नहीं रहे, लेकिन उनका इतना विशाल कर्तृत्व है कि कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकता। प्रवासी भारतीयों के लिए उन्होंने जिस निष्ठा के साथ अपने प्राणों की आहुति दी तथा जीवन के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग किया उसकी गौरवगाथा युग-युगान्तर तक इतिहास गाता रहेगा। इस जीवन में मैंने अनेक कार्यकर्ता देखे और उनके सम्पर्क में आया, लेकिन अपने ध्येय के लिए समर्पित स्वामी जी जैसे व्यक्ति बहुत ही कम देखने में आये हैं। आज उनका 'प्रवासी भवन' निर्जीव खड़ा हुआ उनकी याद दिलाता है तथा उनकी पुण्यस्मृति में संस्थापित प्रवासी विद्यालय नाम की शिक्षण संस्था राज्य सरकार व भारत सरकार की उपेक्षावृत्ति से अन्तिम सांसें गिनती हुई चल रही है। यद्यपि इस विद्यालय के पास राज्य सरकार द्वारा दी गयी भूमि भी है लेकिन धनाभाव और मेरी जरावस्था उसपर निर्माण-कार्य कराने में असमर्थता प्रकट करती है। क्या ही अच्छा हो कि भारत सरकार प्रवासी भारतीयों के एकमात्र प्रतिनिधि स्वामी जी की स्मृति को बनाये रखने के लिए इस संस्था को अनुदान देकर इसके विकास में योग दे जिससे यह संस्था अपना विकास कर प्रवासी महाविद्यालय का रूप ले सके। □



दौलत की दौलत

मुंशी अजमेरी जी का बुन्देलखण्ड के छोटे-बड़े राज्यों में बड़ा आदर था। उनमें खनियाधाना नामक एक छोटा राज्य भी था जिसके शासक अपने साहित्य और काव्यप्रेम के कारण बहुत प्रसिद्ध थे। महाराज को बरवै छंद बहुत प्रिय था। मुंशी जी एक बार वहाँ गये और कई दिन तक खूब काव्य-चर्चा रही। चलते समय महाराज ने अपने कारकून को (जिनका नाम श्री दौलतराम था) आज्ञा दी कि मुंशी जी को विदाई दे दी जाय, और विदाई का आकार भी बतला दिया।

किसी कारणवश उस समय विदाई का भुगतान नहीं हो सका, और श्री दौंलतराम जी ने उन्हें आश्वासन दे दिया कि वह शीघ्र ही उनके पास पहुँच जायगी। एक-दो सप्ताह प्रतीक्षा करने के बाद मुंशी जी ने दौलतराम जी को विदाई भेजने के लिए पत्र लिखा, किंतु उत्तर न मिला। इस प्रकार कई पत्र लिखने के बाद भी जब उनके पास विदाई का रुपया न पहुंचा तब उन्होंने यह बरवा महाराज को लिख भेजा :

बीते तीन महिनवाँ, चरका देत,
प्रभु ! अजहूँ नहिं दौलत दौलत देत।

इसे पढ़ते ही महाराज ने दौलतराम जी को बुलवाकर तुरंत मुंशी जी की विदाई उनके पास भिजवा दी।



प्रवासियों की हिन्दी प्रगति-पथ पर

हीरालाल लीलाधर

□□

एक समय था जब 'विशाल भारत' के प्रवासी अंक में मोरिशस के हिन्दी लेखकों के लेख दिये गये थे। प्रवासियों की तत्कालीन स्थिति से भारत में परिचित होने की उत्सुकता थी। प्रवासी लेखक अपने देश का परिचय दिया करते थे, पर उनकी हिन्दी कमज़ोर थी।

मोरिशस में ऐसे हिन्दीसेवी की आवश्यकता थी जो एक तो हिन्दी व्याकरण पढ़ा सके और दूसरे जो फ्रेंच तथा अंग्रेज़ी में सुन्दर लेख लिखने में समर्थ हो। यह भी आवश्यक था कि उसे साथ-साथ अध्यापन कार्य का अवसर मिला हो। इस अभाव की पूर्ति प्रो० विष्णुदयाल जी ने की। उनके लेख एक ओर फ्रांस में और दूसरी ओर भारत में प्रकाशित होने लगे। उन्होंने अपनी सशक्त लेखनी से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी तथा हिन्दू संस्कृति का समर्थन किया।

एक ईसाई पादरी इनसे हिन्दी सीखने लगे। यहाँ के सरकारी विद्यालय के एक प्राध्यापक ने लन्दन में एक प्रबन्ध लिखा जिसमें उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया कि समय आ गया है जब कि अभारतीय खुशी से हिन्दी को तीसरी भाषा समझकर उसे सीखने लग जायें। आगे चलकर मोरिशस ने हिन्दी को संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता देने की आवाज़ बुलन्द की।

प्रो० विष्णुदयाल जी ने स्थानीय हिन्दी प्रचारिणी सभा का सहयोग पाकर प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पं० उमाशंकर गिरिजानन 1932 में ही स्नातक हो गये थे। इनको सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया। यदि यह कहा जाय कि सम्मेलन हिन्दी की प्रगति का मील का एक पत्थर था तो कोई अत्युक्ति न होगी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अवसर पर प्रो० विष्णुदयाल जी ने अपने लघु भाषण में कहा कि हमें हिन्दी बोलनी और लिखनी चाहिए। इस भाषा में हमारा धार्मिक साहित्य उपलब्ध है। बस, धर्म का पुट देकर ही प्रवासियों से हिन्दी सीखने का आग्रह करना पड़ता था। सम्मेलन के मौके पर धार्मिक ग्रन्थों की अपूर्व प्रदर्शनी का आयोजन हिन्दू महासभा के भवन में किया गया था।

हिन्दी के इस प्रचारक ने एक पुस्तिका लिखी जिसका उन्होंने 'अध्यापक सहचर' नाम रखा। इसकी हज़ारों प्रतियाँ छपीं। फ्रेंच व्याकरण से हिन्दी व्याकरण की तुलना करके हिन्दी सीखना सरल है, वे समझाने में सफल हो गये। हिन्दी प्रचारिणी सभा के कर्मठ सेवक स्व० नेमनारायण गुप्त को उन्होंने न जाने इस पुस्तिका की कितनी सौ प्रतियाँ दीं ताकि बस में सफ़र करते हुए सहयात्रियों के बीच बाँटी जा सके। रविवार के रोज़ वे अस्पतालों में रुग्ण हिन्दी-भाषियों को यह पुस्तिका पकड़ाते थे। प्रारम्भिक काल में हिन्दी के प्रचारकों ने जो परिश्रम किया था उसकी आज भी घर-घर में चर्चा होती है।

कोई बड़ा व्याकरण रचने की माँग होने लगी। वह तैयार हुआ किन्तु उसका नाम 'लघु व्याकरण' रखा गया। साथ-साथ 'बोधकथाएँ', 'हिन्दी की पहली पुस्तक' से लेकर सातवीं पुस्तक की रचना की गयी। किसी पुस्तक के दस संस्करण छपे तो किसीके पाँच या चार।

प्रवासी बालक फलों के हिन्दी नाम बता नहीं सकते थे, इसलिए ऐसी पुस्तक लिखी गयी जिसमें एक लड़के की कथा सम्मिलित की गयी जो फल ख़रीदने के लिए घर से निकला था। पुस्तक में सब फलों के नाम दिये गये। उस पुस्तक के प्रकाशन के दो दशक बाद लोग आड़ू किस फल-विशेष का नाम है, यह जान सके।

महिलाएँ ध्यान से कथा सुनती रहीं किन्तु वर्णमाला के अक्षरों को पहचान नहीं पाती थीं। रात्रि पाठशाला पुरुषों के लिए खोल दी गयी, इनके लिए नहीं खोली जा सकी क्योंकि उस मात्रा में उन्हें स्वतन्त्रता मिली न थी जिस मात्रा में अब मिल गयी है। ग्राम-ग्राम में जाकर हिन्दी के इस प्रचारक ने जागरण के युग में स्वयंसेवकों को श्यामपट्ट घुमाने का काम सौंपा जिसपर एक गाना लिखा रहता था जिसका आरम्भ यह था :

पढ़ो हिन्दू सभी हिन्दी
अ आ इ ई
यह ऋषियों की भाषा है
क ख ग घ
यह मुनियों की भाषा है
च छ ज झ

श्रोतावृन्द ने गाने को खूब पसन्द किया। इसमें भी धर्म का पुट था। उत्साह से जनता एक-एक आदेश को स्वीकार करने लगी। जहाँ एक शती लगाकर धनहीन प्रवासियों ने कुल 35 शिवालय निर्मित किये थे वहाँ 35 साल में उन्होंने इस संख्या को बढ़ाया जिससे आज 80 शिवालय पाये जाते हैं।

पर्वों को धूमधाम से मनाने का युग भी आया। 'आज' के एक लेख में एक भारतीय ने बताया कि मोरिशस में गंगास्नान लोकप्रिय हुआ और दो लाख से अधिक महिलाएँ समुद्र तट पर पूजा करने कार्तिक स्नान के दिन सूर्योदय से पूर्व पधारने लगीं। इस प्रकार उन्हें स्वतंत्रता प्राप्त हुई। लेखक ने आत्माराम के ग्रंथ 'हिन्दू मोरिशस' का विश्लेषण करके कहा कि इसमें गंगास्नान की कहीं भी चर्चा नहीं है, अतः यह पर्व 1940 में लोकप्रिय हुआ।

हिन्दी प्रचारक अपनी जन्मभूमि का इतिहास लिखने में भी समर्थ हैं। भारत से पधारे हुए श्रमिकों को एकमात्र उनके धर्म ने बचाया था। धर्म से विमुख होकर वे भारतीयता की कभी रक्षा कर न पाते।

प्रो० विष्णुदयाल ने उन लोककथाओं को साहित्यिक रूप देकर प्रचलित किया जो मारीच तथा राम-सम्बन्धी हैं या सीता जी का मोरिशस भेजा जाना विषयक हैं। अभारतीय पड़ोसी ऐसी कथाओं को प्रथम भारतीय मजदूरों के मुख से सुनकर क्रिओल का जामा पहना चुके थे। हिन्दी के इस प्रचारक ने फ्रेंच के अपभ्रंश क्रिओल में अनूदित कथा को उसके हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया। 'दिनकर' जी ने मारीच-सम्बन्धी कथा पसंद की थी।

1979 में एक अर्द्ध गोरे ने 'मोरिशस के फ्रेंच साहित्य का इतिहास' लिखा। वह पुरस्कृत हुआ। 1930 में ऐसा ही ग्रंथ रचा गया था। नवीन पुस्तक में यह विशेषता है कि उसमें तीन पृष्ठ हिन्दी लेखकों के विषय में हैं। पुस्तक के उस खास भाग में श्री अभिमन्यु अनत की देन का ही उल्लेख नहीं है बल्कि हिन्दी परिषद तथा हिन्दी लेखक संघ जैसी संस्थाओं की चर्चा भी की

गयी है। प्रो० विष्णुदयाल का ज़िक्र करते हुए लेखक ने लिखा है कि इस मनीषी का जन्म वर्तमान शती के आरम्भ में हुआ, इन्होंने 'पाल और विर्जिनी' तथा 'भारतीय कुटिया' नामक फ्रेंच उपन्यासों का हिन्दी में रूपान्तर किया।

यह सही है कि प्रवासियों को जगाने के लिए, उन्हें हिन्दीप्रेमी बनाने के लिए प्रवासी ही चाहिए। अब परीक्षण हो चुका। अनेक लेखक तैयार हो गये हैं। अब केवल भारत की पत्रिकाओं के विशेष अंकों के लिए ही प्रवासी लेखक नहीं लिखते बल्कि भारतीय पत्र-पत्रिकाएं प्रवासी लेखकों का व्यापक स्वागत कर रही हैं। नये युग ने निःसन्देह पदार्पण कर लिया है।

पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने यह सुझाव दिया था कि "जिन लोगों ने विदेशों में हिन्दी प्रचार का कार्य किया है, उनके अनुभव लिपिबद्ध करा लेने चाहिए।" आशा है कि दक्षिण अफ्रीका, फ़िजी द्वीप समूह, कीनिया, गुयाना, सूरिनाम, ट्रिनिडाड आदि देशों के हिन्दीसेवियों के हिन्दी-संरक्षण कार्य के सम्बन्ध में खोजपूर्ण लेख समय-समय पर 'विश्व हिन्दी दर्शन' में प्रकाशित होंगे। □



'जवाहरलाल' और 'मोतीलाल'

घटना कराची की है। हिंदी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन कराची में हो रहा था। उत्तर प्रदेश के प्रतिनिधियों का एक बड़ा दल कराची पहुँचा। स्वागत समिति ने एक स्कूल के भवन में उन्हें ठहरा दिया। एक कमरे में बेढब जी, सम्मेलन के अर्थमंत्री श्री पुरुषोत्तमदास टंडन (राजा मुनुआँ), आगरे के प्रतिष्ठित कवि और वकील पं० अमृतलाल चतुर्वेदी और श्री विनोद शर्मा (जिन्हें उनके मित्र और साहित्यिक बंधु स्नेहवश 'भैया साहब' कहते थे) ठहराये गये। तीसरे पहर बेढब जी और राजा मुनुआँ समुद्रतट देखने चले गये। संध्या के समय वे लौटे। उस समय पं० अमृतलाल जी मुँह में बनारसी पान भरे चारपाई पर लेटे हुए कुछ पढ़ रहे थे। श्री विनोद शर्मा भी किसी काम में लगे थे। बेढब जी चूड़ीदार पायजामा, शेरवानी और बढ़िया कलफ की हुई गांधी टोपी लगाये हुए थे। कमरे में घुसते ही उन्होंने श्री विनोद शर्मा को संबोधित करके कहा, "भैया साहब, कराची के लोग बड़े विचित्र हैं। समुद्रतट पर मुझे देखकर लोगों ने घेर लिया और लगे कहने, 'जवाहरलाल जी आये हैं! जवाहरलाल जी आये हैं!'" इतना सुनते ही अमृतलाल जी उछलकर चारपाई से उठे, बाहर जाकर उन्होंने पीक थूकी और तुरंत भीतर आकर कहा, "हां भैया। बेढब जी ठीक कहते हैं। कराची के लोग बड़े सिर्री हैं। अभै हम बाहर गये, सो लोग चिल्लान लगे—'पं० मोतीलाल की जै!' हियन के लोगन में जरूर कछू बात है।" सब लोग बेतहाशा हँस पड़े। बेढब जी भी सिवाय हँसने के कोई उत्तर न दे सके।



अभिव्यक्ति

डॉ० र० श० केलकर

□□

अनुभूति मचलती है
अभिव्यक्ति देती है साथ
शब्द सँजोते हैं
अर्थ को

कविता फूट पड़ती है
बीज की तरह
धरती का अंतर चीर

और
बन जाती है विन्यास
अपने ढंग का
अँगनाओं के
मेकप की तरह
शोख़
आकर्षक
या
बीभत्स
पर अलग अलग

किन्तु अनुभूति
दोहराती रहती है
अपने को
निरन्तर
जब से शब्द जन्मा है

जो था
वही है
और
रहेगी भी
मनुष्य की चेतना के साथ
शाश्वत
यह पुनरावृत्ति



स्वभाषा और आयुर्वेद

कविराज ओम्प्रकाश

□□

ऋषियों ने जितने अब तक ग्रंथ लिखे, संहिताएँ लिखीं वे सभी संस्कृत में लिखीं। उस समय भारत की भाषा संस्कृत थी। लेकिन युग बदलने से धारणाएँ भी बदलती हैं। इस युग में हिन्दी में उसका उलथा कई टीकाओं के माध्यम से हो चुका है। फिर भी उसके मर्म को समझने के लिए बार-बार संस्कृत के श्लोकों का अनुशीलन करने के पश्चात् आवश्यकता है कि कोई महा-रथी ऐसा हो जो उनकी पारिभाषिक शब्दावली को जो चरक की, सुश्रुत की, वागभट्ट की, रस चिकित्सा की है उनको जनता जनार्दन के सामने लाये। मेरी ऐसी धारणा है कि यदि हम आयु-र्वेद को पूर्ण रूप से अपना लें तो केवल भारतवर्ष में ही नहीं समग्र संसार का स्वास्थ्य उन्नत करने के लिए आयुर्वेद का बहुत बड़ा योगदान हो सकता है।

जितनी भी अन्य चिकित्सा प्रणालियाँ भारत में हैं, वह चाहे एलोपैथी हो, चाहे होम्योपैथी हो, चाहे वह यूनानी हो, उन सभीका विदेशी भाषाओं के अंदर पठन-पाठन होता है लेकिन जो छात्र हैं वे उनके सार को समझ नहीं पाते क्योंकि उनकी अपनी भाषा के अंदर उनका संदर्भ प्राप्त नहीं होता। दूसरी ओर इतनी फार्मेसियाँ हैं। वे औषध बनाती हैं तो आज का चिकित्सक केवल उसका एक एजेण्ट मात्र होता है। वह उसके तारतम्य को नहीं समझ पाता कि उसके अंदर क्या-क्या ओषधि के पदार्थ हैं। वह नहीं जाँच कर सकता कि वह किसी एक रोग के लिए दिया गया है तो वह कोई अन्य रोग तो उत्पन्न नहीं करता। वह केवल बनी-बनायी ओषधि होती है। उसका प्रयोग होता है। एक रोग होता है और तीन-चार नये रोग उत्पन्न हो जाते हैं। तो भारतीय चिकित्सा प्रणाली के अंदर एक सबसे बड़ा योगदान यह होता है कि चिकित्सक इसे बनवाता है। उसे मालूम होता है कि उसके अंदर क्या-क्या होता है, शरीर के किस-किस अंग के लिए वह लाभकारी है और किस-किस अंग को हानि कर सकती है। वह सोच-समझकर बनाता है तो हानि होने की संभावना ही नहीं होती और इसके साथ-साथ आयुर्वेद चिकित्सक सारे शरीर की चिकित्सा करता है, एक रोग-विशेष की चिकित्सा नहीं। आजकल आधुनिक चिकित्सक मात्र एक रोग की चिकित्सा करता है। उस रोग के कीटाणुओं को ही नाश करने के लिए चिकित्सा करता है। उस रोग को जल्दी से जल्दी कोई ठीक कर दे, लेकिन उस रोग के कीटाणुओं का नाश करते-करते जो हमारे शरीर के रक्त-कण हैं, खून है उसको वैसी दवाएँ नष्ट करती हैं जिससे जिगर में कई प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं, हृदय के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। हमारी अंतड़ियाँ सूख जाती हैं, मल-निष्कासन नहीं हो पाता। किसी-किसीके गुर्दे खराब हो जाते हैं। तो ऐसी अवस्था में अपनी ही भाषा के अंदर उस विज्ञान का समावेश कर सकें, उसका ज्ञान फैला सकें तो छात्र को तह तक पहुंचने में बहुत आसानी रहेगी। मैं तो यह

चाहूँगा कि प्रत्येक चिकित्सा प्रणाली का ज्ञान हम अपनी मातृभाषा में छात्रों को दे सकें तो इस देश का कल्याण होगा।

मेरा यह भी विचार है कि अपनी मातृभाषा के अंदर सभी विधाओं का समावेश हो सकता है। उनके द्वारा हम उस ज्ञान को आगे फैला सकते हैं और भारतीय भाषाएँ, विशेष-कर हिन्दी तो इतनी समृद्ध है कि वह सभी भाषाओं के शब्दों को अपने अंदर आत्मसात् करने में समर्थ है। अपनी भाषा के अंदर अरबी-फ़ारसी के अनेक शब्द हैं जिन्हें हम आत्मसात् कर चुके हैं, अंग्रेज़ी के अनेक शब्द हैं लेकिन उनका जो व्याकरण है वह हमारा अपना हो जाता है। जैसे स्कूल शब्द है वह अंग्रेज़ी है। स्कूल का प्लूरल है स्कूल्स लेकिन हम 'स्कूलों' कहकर प्रयोग करते हैं। तो हम शब्दों को आत्मसात् करके अपनी मातृभाषा के अंदर ले लें तो कोई बुरी बात नहीं है और उससे हमारी भाषा समृद्ध होगी और हम जनता-जनार्दन में बहुत शीघ्र पहुंच सकेंगे।

हिन्दी में चिकित्सा-सम्बन्धी साहित्य—मौलिक और अनूदित दोनों ही का निर्माण हो रहा है। लेकिन यह प्रयास अभी बहुत ही सीमित है और बहुत थोड़ा है। ऐसे विद्वानों को और आगे आना चाहिए जो उन शब्दावलियों को तैयार करें और छात्रों के अंदर आत्मसात् करने के लिए इन्हें योग्य बनाएँ।

यह कार्य बहुत बड़ा है, दुष्कर और व्ययसाध्य भी है। लेकिन मैं इस विषय में बहुत ही आशावादी हूं। यदि मनुष्य एक संकल्प करके आता है, उसके अंदर अपना स्वार्थ नहीं है तो उस निःस्वार्थ सेवा के लिए संसार आगे आता है, उसे पूजता है और उस चीज़ को आगे बढ़ाता है। हमारे देश के अन्दर जितना प्रचार हम अपनी मातृभाषा के द्वारा कर सकते हैं, अपने छात्रों का, नवयुवक के मस्तिष्क का विकास कर सकते हैं, उतना हम विदेशी भाषा के माध्यम से नहीं कर सकते हैं। मेरा तो बराबर यह अदम्य विश्वास है कि अभी कुछ विद्वान सामने आयें और वे संस्कृत की पुस्तकों का, अंग्रेज़ी की पुस्तकों का, अरबी की पुस्तकों का जहाँ-जहाँ से ज्ञान मिल सकता है, उन सबका हिन्दी में अनुवाद करके और अनुवाद को अपने प्रयोग में लायें तो कोई वजह नहीं कि हमारा देश अग्रणी न हो।

मेरा यह भी विचार है कि सरकार ऐसे महत्त्वपूर्ण कार्य में सहयोग देती है। दूसरे, हम कुछ करके दिखायें तो सरकार अपने-आप सामने आ जाती है। सरकार पीछे नहीं रहेगी। □



नेहरू जी और मूर्ख मंडली

एक बार राज्यसभा की लाबी में कुछ सदस्य आपसी हंसी-मज़ाक़ में व्यस्त थे। नेहरू जी उधर से निकले, तो उन्होंने पूछा, "क्या हो रहा है?" सदस्यों ने अपने हल्के-फुल्के वातावरण को क़ायम रखते हुए कहा, "मूर्ख मंडली की बैठक हो रही है और इस मंडली को एक संरक्षक की तलाश है।" नेहरू जी ने भी अपनेको उसी रंग में रँगते हुए तत्काल उत्तर दिया, "इस प्रकार की मंडली का संरक्षक बनने के लिए तो मैं हमेशा तैयार रहता हूँ।"



हिन्दी भाषा और बोली

डॉ० प्योत्र बरान्निकोव

□□

हम जानते हैं कि भारत एक ऐसा देश है जिसकी भाषाएँ और जिसका साहित्य अनेक शताब्दियों से निरन्तर विकसित हो रहा है। मुझे याद है कि जब हमारे पिता जी हमें विश्व विज्ञान में इसे पढ़ा रहे थे तो उन्होंने कहा था कि विश्व में एक ही ऐसा देश है, और वह देश भारत है, जिसमें साहित्यिक भाषाओं की परम्परा अनेक शताब्दियों से—हज़ारों वर्षों से—अटूट चलती रहती है। तो यह भारतीय भाषाओं की विशेषता है।

आज हम जानते हैं हमारा फ़ासला कम होता जा रहा है। मतलब यह कि पहले तो एक देश से दूसरे देश की यात्रा में बहुत समय लगता था। सन् 56 में जब मैं पहली बार भारत आया, तब मुझे मास्को से जाना पड़ा हेलसिंकी, वहाँ से अम्सटरडम, वहाँ से रोम, इस तरह चार-पाँच दिन में दिल्ली पहुँचा। आजकल तो हालत बहुत बदल गयी है। साढ़े पाँच-छह घण्टे में आप आराम से बैठेंगे और वे कहेंगे कि आपका विमान दिल्ली के पालम हवाई अड्डे पर उतरने वाला है। इसका मतलब यह है कि आजकल भाषाओं का भी प्रचार विश्व में बहुत बढ़ता जाता है, क्योंकि जब लोग अलग-अलग रहते थे तब उनका कोई विशेष सम्बन्ध इतनी गहराई से नहीं था। उस समय विश्वभाषा की समस्या नहीं आती थी, पर जब हमारे सम्बन्ध बढ़ने लगे तो प्रश्न आ गया विश्वभाषाओं की आवश्यकता है। इससे हम देख सकते हैं कि विश्व में कौन-कौन-सी ऐसी भाषाएँ हैं जो विश्वभाषा के रूप में विकसित हो सकती हैं, और हम देखते हैं, जानते हैं और इसपर कुछ लोगों ने विचार प्रकट किये हैं, कुछ लोगों ने कहा है कि विश्वभाषा के रूप में अंग्रेज़ी चल सकती है, लेनिन ने भी अपनी किसी कृति में कहा था, "हम जानते हैं या तो अंग्रेज़ी चल सकती है या रूसी भी, मुमकिन है, चल सकती है।"

मगर आज हम देखें तो जो संसार का परिवार है उसमें बहुत-से नये सदस्य भी हो गये हैं पर जो मुख्य सदस्य है, वह तो भारत है। इसलिए जो भाषा है भारती, जिसे सुमित्रानन्दन पन्त ने कहा कि हिन्दी और भारती पर्यायवाची शब्द हैं। उन्होंने कहा कि इसे हम भारती भी कह सकते हैं। वास्तव में हिन्दी तो विदेशी शब्द है भारत के लिए, लेकिन यदि आप भारती कहते तो यह तो स्वदेशी है। तो भारती या हिन्दी को आप पसन्द करें, बोलें, जो संसार का मुख्य सदस्य है भारत उसकी भाषा है। तो आप लोग सदस्य हैं, उनकी भाषा भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, विश्वभाषाओं में भी सम्मिलित करनी चाहिए, मेरा ऐसा विचार है। रूस में तो लोग हिन्दी के प्रति गहरी अभिरुचि रखते हैं, न केवल जो बड़े-बड़े लोग हैं, न केवल बुजुर्ग, बल्कि जो सबसे छोटे बच्चे हैं वे भी मुझसे मिलते हैं, मैं उनको भारत के बारे में बता देता हूँ, स्लाइड्स दिखा देता हूँ। अभी जून-जुलाई में मैंने तीन महीने के अन्दर 50

बार उनको भारत की तरह-तरह की कहानियाँ सुना दीं। उन्होंने कहा,"जब भी आप आ जायेंगे, आपको भाषण देना है।" मैंने देखा, जब बच्चे से भी मिलता हूँ तो जब उनको पता चलता है कि मैं हिन्दी जानता हूँ और लिख भी पाता हूँ तो वे कहते हैं,"कृपया हमारा नाम भी हिन्दी में लिख दीजिये।" मुझे परेशानी हो जाती है, क्योंकि पायनियर कैम्प में एक-दो नहीं, पाँच-छह सौ और कभी-कभी हज़ार बच्चे होते हैं। हज़ार की लाइन लग जाती है। रूस में हिन्दी का अभियान चलता है।

पर इसके साथ एक बात बताता हूँ, हमारे यहाँ कुछ ऐसे विद्वान हैं जिनके विचारों से मैं असहमत हूँ। वे कहते हैं कि वहाँ कोई हिन्दी क्षेत्र नहीं है। यहाँ तक उनके विचार हैं कि हिन्दी क्षेत्र केवल दिल्ली और मेरठ तक ही है, उधर वह मथुरा है वहाँ ब्रजभाषा है और उधर और कोई··· दिल्ली-दिल्ली में भी पंजाबी चलती है, हिन्दी का कोई क्षेत्र नहीं है। पर मैं इन महा-पंडितों से असहमत हूँ। मैंने देखा और इसी विचार से मैंने यात्रा की कि हिन्दी क्षेत्र देखूँ। हरेक स्थान पर जहाँ कोई पाठशाला होती है, उधर साहित्यिक हिन्दी पढ़ाई जाती है। रेडियो से जो कार्यक्रम होता है, ग्रामीण भाइयों-बहनों के कार्यक्रम होते हैं, उधर भी साहित्यिक भाषा के रूप में प्रोग्राम होते हैं। लोकगीत भी होते हैं। इसके साथ शहरों में क्या होता है—बनारस में बनारसी चलती है। मैंने भी सुना है, मैं भी जानता हूँ। फिर भी अगर मैं शिक्षित हूँ तो कोशिश करता हूँ कि साहित्यिक हिन्दी बोलूँ, इसका अर्थ है जो मैंनें देखा है, जो हिन्दी से भी ऊँचा है, उधर शिमले से लेकर बिहार तक, उधर हिन्दी तो चलती है, मुख्य भाषा के रूप में चलती है। उपभाषा या डायलेक्ट्स भी चलती है। पर मुख्य बात यह पता लगाना है कि यह बोली है या भाषा। इसका क्या सामाजिक रूप है। इसके कई रूप हैं, उपभाषाओं का रूप है, बोलियों का रूप है, पर यह सब है हिन्दी क्षेत्र में। मेरा विचार है कि हिन्दी इन सबकी प्रामाणिक प्रति-निधि है। लोग कहते हैं, हिन्दी बोलने वालों की संख्या नहीं के बराबर है, क्योंकि गाँवों में तो लोग अपनी बोली बोलते हैं। पर मैं इस बात से असहमत हूँ, क्योंकि ये तो हिन्दी की ही बोली हैं। क्योंकि रूस में भी जब क्रोपाटकिन थे तो उस समय भी तो बहुत-से लोग साहित्यिक भाषा रूसी से परिचित नहीं थे, फिर भी रूसी भाषा का क्षेत्र था, रूसी भाषा चलती तो थी। इसी तरह आज रूसी भाषा चलती है। लोग कहते हैं कि गाँव में लोग बोली बोलते हैं, पर मैं देखता हूँ गाँव में हिन्दी चली। उसके सामने मैं एक प्रश्न लगाता हूँ। मैं कहता हूँ या तो यह होता है कि गाँव की बोली शहर में आती है या शहर की भाषा गाँव में जाती है। तो अभी तक और देशों में भी यही देखने में आया है कि शहर की भाषा गाँव में पहुँची है। और रूस में अगर आप देखेंगे तो वहाँ जो लिंग्विस्ट हैं, भाषाविद्, उनको एक बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गयी, वे कहते हैं कि अगर अपने यहाँ की बोलियों को आज ही किसी बूढ़े से (आवाज़ में) टेप नहीं करवायेंगे तो कल तो वे बोलियाँ हमें नहीं मिलेंगी।

हम देखते हैं कि बोली तो चुपचाप निकल जाती है, उसके स्थान पर साहित्यिक भाषा आ जाती है। भारत में भी जब सब सक्षम हो जायेंगे और सब लोग साक्षर हो जायेंगे तो इधर भी वही होगा। लोकगीत तो सुरक्षित रहेंगे, जब शिक्षा का प्रसार बढ़ेगा। जैसे भोजपुरी बोली वाले कहते हैं कि यह हिन्दी की बोली है। उधर कुछ लोग कहते हैं कि यह एक भाषा है, हिन्दी से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। तरह-तरह के तर्क आप सुन सकते हैं। यह ठीक है कि बोलियों का असर उस क्षेत्र में रहेगा, जैसे मैथिली हिन्दी, ब्रज हिन्दी, भोजपुरी हिन्दी।

मुझे प्रसन्नता है कि 'विश्व हिन्दी दर्शन' नामक पत्रिका का श्रीगणेश हुआ है जिसमें न केवल भारत का प्रतिनिधित्व है, बल्कि विश्व का प्रतिनिधित्व है।

हमारी शिक्षाप्रणाली आपसे कुछ भिन्न और कुछ सरल है। जब 7 वर्ष का बच्चा होता है, तब स्कूल जाता है। स्कूल में शिक्षा का कार्यक्रम 10 वर्षीय होता है। उसके बाद विश्वविद्यालय पाँच वर्ष। मेडिकल 6 वर्ष। हर स्कूल में सिद्धान्त है कि रूसी भाषा क्षेत्र में रूसी भाषा अनिवार्य है और साथ ही साथ विदेशी भाषा इंग्लिश, फ्रेंच, जर्मन, उसके बाद और भाषाएँ भी आ जाती हैं। कुछ स्कूल हैं जिनमें हिन्दी पढ़ाई जाती है। आप पूछेंगे, "हिन्दी क्यों बाद में आती है," तो यह हमारा दोष नहीं, आपका दोष है। मैंने यह देखा है जब भी कोई भारतीय प्रतिनिधिमण्डल हो, जो भी कोई हो, दूतावास के भी, जब हम उन्हें स्वतन्त्रता-समारोह में बुलाते हैं लेनिनग्राद, तब वे अपना भाषण इंग्लिश में देते हैं। हमारे देश के आर्थिक सम्बन्ध हैं, औद्योगिक सम्बन्ध हैं, तो आप जानते हैं वे भी इंग्लिश में हैं। मैंने किसी पत्र में पढ़ा, रूस में लाखों लोग हिन्दी पढ़ते हैं, पर यह या तो झूठ है या उन्हें पता नहीं, क्योंकि अफ़सोस की बात है, पर लाखों लोग हिन्दी नहीं पढ़ते हैं। मैंने आपको कारण बता दिया कि मेरे विचार से जो आपके प्रतिनिधि विदेश जाते हैं, उन्हें हिन्दी सिखा दें, ज़्यादा नहीं तो कुछ शब्द तो हिन्दी में बोल पायें तब अच्छा प्रभाव पड़ेगा। तब हमारे देश में भी हिन्दी का प्रचार बढ़ेगा। तो हमारे यहाँ स्कूल हैं, फिर विश्वविद्यालय, कुछ इंस्टीट्यूट भी हैं, जिनमें हिन्दी की शिक्षा दी जाती है, शिक्षा होती है—पाँचवर्षीय कोर्स है, जैसे यहाँ रूसी पढ़ाई जाती है कि उसका कुछ साहित्य आ जाता है, वैसा वहाँ नहीं। वहाँ अगर मैं भारत तत्त्वविज्ञ होना चाहता हूँ तो मुझे भिन्न-भिन्न क्रमिक विषयों पर करीब पचास परीक्षाएँ पास करनी होती हैं, तो कम से कम मेरा परिचय तीन भारतीय भाषाओं से होता है। □



तख़्ते सुलेमाँ

एक बार की घटना है कि महाकवि अकबर दिल्ली में उर्दू के प्रख्यात गद्य-लेखक ख्वाजा हसन निज़ामी के घर पर ठहरे हुए थे। ख्वाजा आध्यात्मिक व्यक्ति थे तथा लोगों को रोग आदि के लिए तावीज़-गण्डे दिया करते थे। इन्हें लेने के लिए उनके पास तवायफ़ें भी आया करती थीं। उन्होंने वेश्याओं को मना कर दिया था कि जब तक अकबर हैं, वे न आयें। फिर भी इस दौरान दो तवायफ़ें उनके दर पर आ ही पहुंचीं। अकबर ने उनसे 'आइये-आइये' कहकर उन्हें अन्दर बुला लिया। हसन निज़ामी ने इशारे से उन्हें कहा कि वे चली जायें, पर अकबर ने आग्रहपूर्वक उन्हें बुलाया और ख्वाजा साहब से कहा, "इस कूचे में तो सभी लोग आते हैं, आप इनकी बात सुनिये और इन्हें तावीज़ दीजिये।"

ख्वाजा ने उन्हें तावीज़-गण्डे दिये और विदा किया। तभी अकबर ने एक शेर कहा जिसका अर्थ था, "मैं ख्वाजा साहब के यहाँ इसलिए आया था कि यहाँ फ़रिश्ते उतरते हैं, पर आज देखा कि यहाँ परियाँ भी उतरती हैं।"

इसी तरह जब सर मुहम्मद सुलेमान हाईकोर्ट के जज मुक़र्रर हुए तब वह अकबर साहब के पास गये और बोले, "मैं आपकी दुआ से हाईकोर्ट का जज बना दिया गया हूँ।" अकबर ने बड़ी मोहब्बत से उनकी पीठ ठोकी और कहा :

आपके तशरीफ़ लाने से बढ़ा इज्जो वकार, बेंच हाईकोर्ट अब तख्ते सुलेमाँ हो गया।



हिन्दी की बोलियाँ, स्वतंत्र भाषा नहीं

लल्लनप्रसाद व्यास

□□

आज़ादी के बाद हमारे राष्ट्रीय या सामाजिक जीवन के जिन क्षेत्रों में अनेक स्वच्छंदतावादी और कहीं-कहीं पृथक्तावादी प्रवृत्तियाँ परिलक्षित हो रही हैं उनमें भाषा का क्षेत्र प्रमुख है। ऐसा नहीं कि ये प्रवृत्तियाँ केवल राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी-विरोध तक ही सीमित हैं बल्कि हिन्दी के अन्तर्गत क्षेत्रीय भाषाओं या बोलियों की स्वतंत्र सत्ता के नाम पर स्वयं हिन्दी-भाषियों द्वारा अपनी भाषा-भगीरथी की विशाल धारा को कमज़ोर करने का प्रयास भी जाने-अनजाने में किया जा रहा है। जान-बूझकर तो वे कर रहे हैं जो हिन्दी-भाषियों के संख्याबल को उसकी उपभाषाओं, क्षेत्रीय भाषाओं या बोलियों में विभाजित करने का प्रयास करके इसके संख्या-वर्चस्व को भंग करना चाहते हैं और फिर उसके राष्ट्रभाषा या राजभाषा स्वरूप को भंग करने के इच्छुक हैं। और अनजाने में वे कर रहे हैं जो अपनी क्षेत्रीय भाषा के प्रेमभाव के वशीभूत होकर उसके स्वतंत्र अस्तित्व या राजकीय मान्यता के पक्षधर हैं।

हिन्दी को आघात

इस प्रकार हिन्दी को दोनों ओर से आघात सहने पड़ रहे हैं—बाहर से भी और अंदर से भी तथा परायों से भी और अपनों से भी। आज़ादी के बाद की यह कैसी विडम्बना है कि आजादी पूर्व की राष्ट्रभाषा को एक ओर तो उसको पूर्ण प्रतिष्ठा और प्रोत्साहन मिला नहीं और दूसरी ओर उसको अनेक विरोध, षड्यंत्र, आघात और आरोप सहने पड़ रहे हैं। हमें हिन्दी के बाहरी विरोध की उतनी चिंता नहीं है क्योंकि यह चिंता उनको अधिक है जिन्होंने राष्ट्रप्रेम के वशीभूत होकर अपनी मातृभाषा हिन्दी न रहते हुए भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया किन्तु हमें हिन्दी को आन्तरिक आघात पहुँचने की चिंता अवश्य है। हिन्दी सदैव विरोधों, अभावों और संघर्षों में ही पली और आगे बढ़ी है अतएव वर्तमान विरोधों को भी वह सहन करके शक्ति अर्जित करेगी। किन्तु आन्तरिक आघातों और षड्यंत्रों से तत्काल सावधानी और सर्तकता आवश्यक है।

अवधी अकादेमी का प्रस्ताव

इस दृष्टि से 1978 में हिन्दी के महाकवि जायसी के समाधि-स्थल (ज़िला सुलतानपुर, उ० प्र०) पर और 1979 में श्रावस्ती (बहराइच) में आयोजित 'अवधी अकादेमी' की गोष्ठियों के वे सर्वसम्मत प्रस्ताव दिशाबोधक सिद्ध हो सकते हैं जिनमें कहा गया था कि "लोकभाषाओं के अध्ययन, अनुसंधान, संवर्धन और विकास का उद्देश्य राष्ट्रभाषा की मुख्यधारा को शक्ति-

शाली बनाना तथा इसके विराट् रूप को भारत तथा विश्व में उजागर करना हो। साथ ही ऐसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न दिया जाय जिसका उद्देश्य हिन्दी की किसी लोकभाषा का पृथक् अस्तित्व या उसे पृथक् मान्यता दिलाना हो।"

बोलियों के अलावा हिन्दी क्या ?

उक्त प्रस्ताव का मूल उद्देश्य इस भावना की ओर इंगित करना था कि यदि हिन्दी की बोलियाँ, लोकभाषाएँ या क्षेत्रीय भाषाएँ ही पृथक् भाषाएँ बन जाती हैं तो फिर हिन्दी और क्या शेष रहेगी ? वह केवल खड़ीबोली तो नहीं होगी क्योंकि यह तो हिन्दी का एक रूप है, एक शैली या एक बोली है जिसका नामकरण ही बोली पर है। यह तो भाषाज्ञान में एकरूपता या समानता के लिए आवश्यक था विशेष रूप से जब वह भारत जैसे महादेश की राष्ट्रभाषा या राजभाषा पद पर प्रतिष्ठित हो। हिन्दी का यह रूप या शैली तो स्वयं शताब्दियों में उसके लोकस्वरूप से ही बना है और परिष्कृत होते-होते खड़ीबोली के इस रूप में आया है।

स्पष्ट है कि केवल खड़ीबोली हिन्दी नहीं। हिन्दी तो एक ऐसी शक्तिशाली प्रवहमान धारा है जो अपनी अनेक लोकभाषाओं के स्रोतों और उपधाराओं से निर्मित है, अतएव मुख्य-धारा के बिना उनका अस्तित्व कहाँ है और मुख्यधारा का उनके बिना अस्तित्व कहाँ ? गंगोत्री के बिना गंगा कैसे सम्भव है और गंगा के बिना गंगोत्री का अस्तित्व क्या है ? गंगोत्री के दर्शन कितने लोग कर पाते हैं पर गंगा में कोटि-कोटि जन अवगाहन करते हैं। राष्ट्रभाषा और लोक-भाषाओं का यही अन्योन्याश्रित संबंध है।

हिन्दी परिवार में विभाजन-रेखाएँ क्यों ?

इसीलिए भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई के शब्दों में जहाँ हिन्दी के राष्ट्रभाषा या राजभाषा स्वरूप की स्वीकृति के बारे में देशभक्ति की भावना अपेक्षित है वहाँ लोकभाषाओं के बारे में भी हमारे विचार राष्ट्रसापेक्ष हों जिनका उद्देश्य भारत की अपनी राष्ट्रभाषा को शक्ति, सामर्थ्य और व्यापकता प्रदान करना हो ताकि वह विश्वमंच पर भारत की प्रतिनिधि भाषा के रूप में अपनी भूमिका अदा कर सके। यूनेस्को के अनुसार आज भी संसार में हिन्दी बोली जाने वाली भाषाओं में तीसरी बड़ी भाषा है जिसको यह प्रमुखता उसकी अपनी लोक-भाषाओं के बल पर प्राप्त है। अतएव उसका यह आधार बना रहना कितना आवश्यक है ! वैसे चीनी भाषा की भी अनेक बोलियाँ हैं, किन्तु उनकी एकता इतनी शक्तिशाली है कि केवल चीनी भाषाशास्त्री ही पता लगा सकते हैं कि इस भाषा में कितने भेद हैं। फिर हिन्दी के विशाल परिवार में ही विभाजन की रेखाएँ क्यों ?

क्षेत्रीय भाषाओं की पृथक्ता के कुछ हिमायती तो भाषाविज्ञान के आधार पर हिन्दी की कुछ बोलियों को हिन्दी परिवार से पृथक् बताने की कोशिश करते हैं और इसके लिए विदेशी भाषाशास्त्रियों के ग्रंथों का हवाला देते हैं। पर वे शायद इस सत्य को भूल जाते हैं कि भाषाशास्त्री तो भाषा से संबंधित इतिहास, भूगोल या रचना प्रक्रिया को बता सकते हैं, उसकी रचना और निर्माण नहीं कर सकते। भाषा तो जन-जन के प्रयोग और अभिव्यक्ति के प्रवाह से बनती है। इस संबंध में नेहरू जी के एक उत्तर का मुझे स्मरण आता है। जब उनके भाषण के दौरान एक इतिहासकार ने उनकी किसी बात को इतिहास के अनुसार ठीक करने का प्रयास किया था तो उन्होंने सहज भाव से कहा था कि आप इतिहास लिखते हैं और मैं इतिहास बनाता हूँ। जाहिर है कि भाषा और बोली के बारे में निर्णय करते समय केवल भाषाविज्ञान की खुर्द-

बीन ही अन्तिम निर्णय नहीं देती, बल्कि कोटि-कोटि जन की अभिव्यक्ति का प्रबल प्रवाह निर्णायक भूमिका अदा करता है। भाषा और बोली के रिश्ते परिवार के व्यावहारिक और क्षेत्रीय संबंध ही निर्धारित करते हैं, राष्ट्र और समाज की उद्बुद्ध आत्मा करती है और युग का विवेक करता है। अतएव इस प्रश्न पर समग्रता की दृष्टि से ही विचार होना चाहिए।

कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं

राष्ट्रसापेक्षता और समग्रता की इस दृष्टि में एक बात वहुत साफ दिखाई पड़नी चाहिए कि हिन्दी की किसी भी भारतीय भाषा से रत्ती-भर भी प्रतिस्पर्धा या प्रतिद्वन्द्विता नहीं है। भारत की भाषाएँ एक विराट् संस्कृति की अंग हैं अतएव उनके रंग और बोल अलग-अलग होते हुए भी अपना उनका समवेत रंग और स्वर है। यही विविधता में एकता है। उनका पारस्परिक आदान-प्रदान ही हमारी समान सांस्कृतिक धरोहर है। और संस्कृत अधिकांश भारतीय भाषाओं में एकता की सूत्र है जिसके कारण कुछ भाषाएँ शब्दावली में हिन्दी से अत्यन्त साम्य रखती हैं, क्योंकि हिन्दी का आधार तो मुख्य रूप से संस्कृत ही है। कुछ प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी के क्षेत्र इतने मिले हुए हैं कि उनमें हिन्दी की बोली प्रचलित है वह अपनी समीपवर्ती प्रादेशिक भाषा से भी काफी निकट है। कहीं-कहीं यह ऐसा संगम है कि जिसमें दिखाई पड़ने वाला जल हिन्दी के बजाय उक्त प्रादेशिक भाषा का लगता है। भाषा के आदान-प्रदान की दृष्टि से ऐसे संगमस्थल स्वागत योग्य हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि संबंधित बोली अपने हिन्दी परिवार से वंचित हो जाय।

हिन्दी का संख्यावल तोड़ने का षड्यंत्र

हिन्दी को उसका राष्ट्रभाषा और राजभाषा पद संख्याशक्ति और अखिल भारतीय व्यापकता के आधार पर ही प्राप्त हुआ था। अतएव यदि अब हिन्दी को उसकी इस प्रतिष्ठा से वंचित करने के षड्यंत्र में कुछ लोग संख्या का उलट-फेर करके उसे अल्पसंख्यक भाषा बताने की कोशिश करें तब संख्या का महत्त्व अवश्य हो जाता है और उस दशा में यह सतर्क रहने की जरूरत पड़ती है कि हिन्दी परिवार की बोलियों और क्षेत्रीय भाषाओं की सही संख्या की गणना हो और हिन्दी का अपना राष्ट्रभाषा और राजभाषा-महत्त्व बना रहे। केवल भारत में ही नहीं, हिन्दी जब विश्वभाषा के रूप में अपना महत्त्व और व्यापकता प्रकट कर रही है तो उस समय भारत और बाहर के देशों में भी हिन्दी को बोलने-समझने और लिखने-पढ़ने वालों की संख्या का अपना महत्त्व हो गया है। इस दृष्टि से सभी भाषा-भाषी हिन्दी-प्रेमियों को आगामी जनगणना में यह प्रयास करना चाहिए कि विभिन्न भाषा-भाषियों की सही संख्या दर्ज हो।

हिन्दी का भी कर्तव्य

किन्तु इसके साथ सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जहाँ राष्ट्रभाषा और राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रति उसकी बोलियों या लोकभाषाओं के अनेक कर्तव्य हैं वहाँ इन दोनों महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हिन्दी का भी अपनी पारिवारिक लोकभाषाओं के प्रति उतना ही महत्त्वपूर्ण कर्तव्य हो जाता है। कर्तव्य भी उभयपक्षीय होते हैं। वस्तुतः हिन्दी की शक्ति और समृद्धि अपनी लोकभाषाओं पर ही निर्भर है। उसका साहित्य भंडार भी इन्हीं लोकभाषाओं पर आधारित है, अतएव जब कभी अपनी रचना और विकास की प्रक्रिया में राष्ट्रभाषा या राजभाषा अपनी लोकभाषाओं से दूर जाती है, तभी अपने लिए समस्याएँ खड़ा कर लेती है। आज हिन्दी

पर दुरूहता का जो गलत या सही आरोप लगाया जाता है उसका कारण हिन्दी का अपनी शब्द-रचना में लोकभाषाओं से दूरी है । यह सही है कि विज्ञान और टेकनॉलॉजी की वर्तमान चुनौती को स्वीकार करने में लोकभाषाएँ हिन्दी का साथ सीमित यानी एक सीमा तक ही प्रदान कर सकती हैं किन्तु अन्य अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ ये लोकभाषाएँ हिन्दी का शब्दभंडार भरने में अपना काफ़ी योगदान कर सकती हैं । उसके बावजूद आवश्यकता पड़ने पर हिन्दी अपनी अन्य भारतीय भाषाओं से भी सहयोग ले सकती है किन्तु यह तो आवश्यक है कि शब्दों की रचना में कृत्रिमता और दुरूहता से बचना होगा और इसके लिए यदि आवश्यक हो तो संस्कृत के बजाय कुछ पड़ोसी देशों की भाषाओं की भी मदद ली जा सकती है जिसका मूल स्वभाव संस्कृत या पाली पर आधारित है, जैसे, थाई भाषा, इसमें विज्ञान और टेकनॉलॉजी से संबंधित अनेक सरल और सुबोध शब्द विद्यमान हैं ।

लोकभाषाओं की समृद्धि

हिन्दी पर जो समृद्धिविहीनता का आरोप लगाया जाता है वह भी इसी कारण से कि हिन्दी की लोकभाषाओं के साहित्य भंडार से प्रायः लोग अपरिचित हैं । इस अपरिचय का एक कारण यह भी हो सकता है कि यह साहित्य भंडार अपनी सम्पूर्णता के साथ प्रकाश में नहीं आ सका है । हिन्दी की लोकभाषाओं में मानव की अन्तरतम भावनाओं को व्यक्त करने की पूर्ण क्षमता है इसलिए जायसी, सूर, तुलसी, कबीर आदि ने हिन्दी की विभिन्न बोलियों का सहारा लिया और तत्कालीन अभिजात वर्ग की भाषा के पंडित होते हुए भी उन्होंने अपने साहित्य में उसको महत्त्व नहीं दिया । इसके कारण उन्हें तत्कालीन विद्वन्मंडली का रोष भी सहन करना पड़ा होगा किन्तु वे लोकद्रष्टा के साथ-साथ दूरद्रष्टा भी थे । उन्होंने इन लोकभाषाओं को मानव-भावनाओं के उच्चतम शिखर पर पहुँचाया है और उनका संस्कार-परिष्कार किया है। अतएव यह भ्रम दूर हो जाना चाहिए कि बोलियों के साथ मात्र ग्राम्यता का सम्बन्ध होता है । अवधी को कभी ग्राम्य भाषा ही माना जाता था किन्तु तुलसीदास जी ने इसमें 'रामचरितमानस' की रचना करके संसार को सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रदान किया ।

आज की बदली हुई परिस्थितियों में भी जब खड़ीबोली को हिन्दी का मानक रूप जैसा स्वीकार कर लिया गया है तब इसकी लोकभाषाओं के अध्ययन और ज्ञान की और भी अधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है । हिन्दी के समग्र व्यक्तित्व और समस्त साहित्य के दर्शन और ज्ञान के लिए लोकभाषाओं का ज्ञान बहुत आवश्यक है । अभी भी खड़ीबोली मुख्य रूप से शहरों तक ही सीमित है । छोटे-छोटे नगरों और गाँवों में तो हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ ही प्रचलित हैं और उनके असंख्य ज्ञात और अज्ञात साहित्यकार निरन्तर अपनी उत्कृष्टतम रचनाओं से हिन्दी का साहित्य भंडार बढ़ा रहे हैं।

हिन्दी की संस्थाओं और प्रचारकों से भी यही आशा की जाती है कि वे हिन्दी के सम्बन्ध में लोकभाषाओं से युक्त व्यापक दृष्टि अपनायें ।

इसके साथ ही मेरा आग्रह और आह्वान है उन संस्थाओं से जो हिन्दी की लोकभाषाओं के प्रश्रय और प्रोत्साहन के लिए प्रयत्नशील हैं कि वे एक मंच पर आयें अथवा एक ऐसा समान कार्यक्रम बनायें जिसका उद्देश्य राष्ट्रभाषा और राजभाषा की धारा को बलवती करना हो, जिससे हिन्दी के विरोध में चलने वाले षड्यंत्र विफल हों । यह ध्यान रहे कि परतंत्रता-काल में हिन्दी की जिस शक्ति को दमन और अन्याय नहीं रोक पाये, वह कहीं आज़ादी के बाद की हमारी गफ़लत में विभाजित या कमज़ोर न हो जाये । पहले ही काफ़ी देर हो चुकी है । □



मलयालम उपन्यास का हिन्दी सार-संक्षेप

अब मैं सोऊँ

मूल लेखक : पी० के० बालकृष्णन्
हिन्दी रूपांतर : डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर

□□

पांडव-शिविरों से उठी जयध्वनि और भेरीनाद दिग्दिगन्त में निनादित हो उठे। युद्ध-समाप्ति पर शिविरों को लौटे सेनानियों का विजय-मदिरोत्सव हिरण्वती नदी के दूसरे तट पर वनिता-कक्षों में संक्रान्त हो चला। उत्साह से उमड़ते मात्स्य-पांचाल-विराट् सेनानियों के हाथों में स्थित जलती मशालें पृथ्वी पर शत-शत तारिकाओं का भ्रम जता रही थीं। मृत स्वजनों की स्मृति से दुःखित रानियाँ भी अपने पक्ष की विजय पर व्यथा भूलकर आनन्द व उल्लास मनाने लगीं।

उस रजनी में उज्ज्वल दीपवर्तिकाओं के सामने क्षत्रिय रमणियों के मुखमंडल अधिक आभापूर्ण हो उठे। निद्रारहित सत्रह निशाएँ बिताने के बाद उन मनस्विनियों ने आज विजयाह्लाद से नववधुओं की तरह अपने को सजा लिया। सँवारे हुए जूड़े में कुसुम धारे हुए द्रौपदी ज्वालामय मुखमंडल से उनके आगे कृष्ण-प्रार्थना में लीन खड़ी थी, "हे जगत्प्रभु! आज तक यह कृष्णा 'सौभाग्य' शब्द का भाव नहीं समझ सकी। आपने उसे जन्म की सार्थकता प्रदान की। आपकी दयालुता की जय हो! भीषण रण में आपने मेरे पतियों-पुत्रों को वरदहस्त से अभय दिया था। वही कृपाभाव उनपर बनाये रखना। मेरे वृद्ध पिता को प्राण देने वाले आपके आशीर्वाद उन्हें आठों पहर सुलभ रहें। आपने मेरे भ्रातृजनों की करुणापूर्वक सुरक्षा की। उन्हें आपका प्रसाद प्राप्त होता रहे।"

प्रार्थना दुहराती द्रौपदी के नयनों से आनन्द के अश्रुकण झर पड़े। प्रभु कितने करुणामय हैं!

बत्ती की लौ धीमी करके बिस्तर पर लेटी द्रौपदी ने वनवास का स्मरण किया। विराट्पुरी के अज्ञातवास की स्मृति हो आयी। वे दिन! बिना निद्रा के या निद्रा में ही डरावने सपनों से भयाक्रांत होकर बिताया वह युग! उस युग से वह अब हमेशा के लिए विदा ले चुकी। उसके हृदय की तरफ़ अनोखी प्रभा-भरी उल्का-सी अर्जुन की मूर्ति बाणवेग से आती अनुभव हुई। भीम का सशक्त रूप आया। संकोचशील युधिष्ठिर, नकुल एवं सहदेव के रूपों का ध्यान करते-करते उसके मुखमंडल पर अनोखा मन्दहास छलक पड़ा। इस मन्द हँसी के साथ वह गहरी नींद के आनन्द में लीन हुई।

प्रथम खंड

रजनी समाप्त हो रही थी। सरस्वती तट से हिरण्वती तट तक कुरुक्षेत्र मरा और मुरझाया पड़ा था।

प्रथम पंक्ति में धृतराष्ट्र, विदुर एवं संजय कुरुक्षेत्र को लक्ष्य कर बढ़े। उनका अनुगमन विधवाओं का एक महाव्यूह कर रहा था। वे प्रिय जनों का पार्थिव शरीर अंतिम बार देखने की अदम्य इच्छा से अपनी ही अश्रुधारा में आगे की ओर बहते थे। नभवासी देवतागण भी पहले जिन राजकन्याओं को आँख-भर देख नहीं पाते थे वे अब छाती पीटती, बाँहें ऊपर उठाये रोती-प्रलाप करती पथ पर पैदल चल रही थीं। हस्तिनापुर के राजपथों ने रथारूढ़ राजाओं को युद्धभूमि की तरफ़ युद्धोत्साह से बढ़ते देखा। अब वे ही राजपथ इन विधवाओं की शोकपूर्ण विलापयात्रा के भी दर्शक गवाह थे।

दाह-संस्कार की तैयारियाँ पूर्ण हो गयीं। दृष्टिपथ की चरम बिंदु तक (जहाँ तक आँख पहुँच सके, वहाँ तक) कतारों में चिताकुंड बने। विप्रजनों के मंत्रोच्चार करते-करते चिताकुंडों से अग्निज्वालाओं की जिह्वाएँ लपक पड़ीं। वे खून को चख-चखकर स्वाद लेती रहीं। सहस्रों चिताकुंडों ने आकाश के हृदय में पृथ्वी का ताप भर दिया। अग्निसंस्कार के बाद पितृ-तर्पण एवं जलांजलि के लिए सब एकसाथ गंगातट चले। नदी तट पर व्रतानुष्ठानपूर्वक मास-भर श्राद्धाचरण का निश्चय हुआ। युधिष्ठिर ने पर्याप्त संख्या में कुटीर निर्माण करने की आज्ञा दी। सबके आगे एकवस्त्रधारी युधिष्ठिर चले। वे जलप्रवाह की तरफ़ क़दम बढ़ाते जा रहे थे कि अप्रत्याशित रूप से उनके पथ में बाधा डालती-सी माता कुन्तीदेवी खड़ी हो गयीं। उनके विस्मय की सीमा न रही, चकित हुए। अंजलिबद्ध और कंपित शरीर खड़ी उस मातृमूर्ति की तरफ़ बड़े भीतिभाव से उन्होंने देखा। असाधारण ध्वनि में कुन्तीदेवी ने युधिष्ठिर से कहा :

"युधिष्ठिर ! पितृजनों का श्राद्ध करने जाते हुए तुम पहले युद्ध में मृत्युप्राप्त कर्ण का श्राद्ध करो। मेरे पुत्र ! तुम्हारी माता की वह कानीन संतान—वह सूर्यपुत्र तुम्हारा ज्येष्ठ भ्राता है। युद्ध में मृत वह बड़ा भाई ही तुम्हारा सबसे आत्मीय पितृजन है पुत्र ! उसके लिए उदक्क्रिया करो।"

अपनी आँखों पर अविश्वास तथा प्रज्ञा पर संदेह करते युधिष्ठिर विभ्रान्त-से खड़े रहे। कुन्ती ने अपना निवेदन दुहराया। युधिष्ठिर की प्रज्ञा अब क्रोध से धधक उठी। उन्होंने कहा :

"माँ ! मैं अब तुमपर जो शाप-बाण प्रयोग कर रहा हूँ उसके भार से यदि मुझे कष्ट हो तो होने दो। फिर भी तुम्हारे माध्यम से मैं शाप देता हूँ कि संसार में कोई स्त्री कोई भी रहस्य अपने मान में पचा न सके।

"माँ, इस रहस्य को अब तक छिपाकर तुमने हमें नित्य नरक में डाल दिया। मुझ भ्रातृहन्ता का उद्धार इहलोक व परलोक में कैसे होगा ?" धर्मपुत्र विलाप करते रहे। उन्होंने कर्णपत्नियों एवं कर्णपुत्र-पत्नियों को बुलाकर उन्हें अपने स्त्रीजनों के सुपुर्द कर दिया। नित्य दु:खित युधिष्ठिर ने विधवा कर्णपत्नियों के साथ कर्ण का चिताभस्म गंगा में निमज्जन कर दिया।

उस ज्येष्ठ भ्राता का हनन कर स्वयं उसका राज्य हड़प लिया। राज्यलोभ से अंधा बनकर अपने बड़े भाई को मारकर उसका राज्य छीनने वाला वे महापापी हैं। शासनदंड लिये युधिष्ठिर की करांगुलियाँ कालसर्प को देखने के भय से काँप रही हैं—यह भीमार्जुन की समझ में नहीं आयेगा। अपना हित, अपनी शपथ, अपना दु:ख—इनमें किसीका कोई मतलब यहाँ नहीं है। यहाँ केवल एक असमर्थता, एक कमज़ोरी है। हित एवं अहित से परे सिर्फ़ शून्यता में स्थित असमर्थता ! युधिष्ठिर का हृदय रट रहा था :

"परकटा पक्षी ! परों से बिलकुल खाली पक्षी।
वह विहग अब कैसे उड़े ?"

× × ×

दीपनाल निस्पन्द था। ज़मीन पर चादर पर धीमी श्वास-निःश्वास लेते युधिष्ठिर के चेहरे की तरफ़ द्रौपदी ने धुँधले प्रकाश में देखा। मनुष्य के लिए निद्रा की सृष्टि करके परमात्मा ने सचमुच बड़ी करुणा की ! उसे याद आया कि उसे अच्छी नींद सोये कई वर्ष गुज़र चुके। वह पीड़ा से तड़प उठी। उसका मन आत्मनिंदापूर्वक वड़बड़ा रहा था, 'मुझे अब आफ़तों का डर नहीं है।' द्रौपदी के हृदय में मानो कुछ अज्ञात हूक उठी। स्वाभिमान पर कोई तेज़ काँटा बुरी तरह चुभ गया। वह अपने को भूल गयी। बार-बार शापवचन देती-सी एक शब्द दुहराने लगी :

"कर्ण ! कर्ण ! कर्ण !"

स्वाभिमान से तप्त द्रौपदी की स्मृतियाँ अतीत के अनेक वर्ष पार कर गयीं।

उसने पांचाल राजधानी का स्वयंवर-मण्डप देखा। पंक्तिशः बैठे विवाहार्थी राजकुमारों में उसका हृदय अपरिचित अर्जुन-विग्रह ढूँढ़ रहा था। अर्जुन के सिवा और किसीके लक्ष्यवेध में सफल न होने का आश्वासन तथा दुःख—दोनों हृदय में उमड़ रहे थे। उसी समय सूतपुत्र कर्ण धृष्टतापूर्वक मंच पर आया, बड़ी सरलता से धनुष संधान कर शर का लक्ष्यसंधान करने लगा। द्रौपदी उसकी स्मृति से ही चौंक उठी।

वह उस दिन भीषण दुर्भाग्य के रूप में उसके जीवन में आया था। वह हमेशा धमकाता ही रहा। मरे हुए कर्ण की स्मृति शेष जीवन के बाहरी आवरण को भी भस्म कर रही है।

"अर्जुन ! अर्जुन !" की दीन पुकार सुन भयचकित द्रौपदी उठ बैठी। युधिष्ठिर के मुखमंडल पर स्वेद जल था ! निद्रित ओठों पर दीन विलाप था, "अर्जुन !" वे निद्रा में रो रहे थे।

हस्तिनापुर उस समारोह के लिए सज-धजकर तैयार हो गया। शस्त्राभ्यासी राजकुमार दो पंक्तियों में बँटकर 'विश्राम' की स्थिति में खड़े थे। पांडवकुमारों के बीच में द्रोणाचार्य नक्षत्रों से परिवृत इन्दुराज-से विराजे। अश्वत्थामा के चारों ओर उपस्थित धृतराष्ट्र-पुत्रों के बीच खड़े सुयोधन ने गंभीरतापूर्वक सभा का अभिवादन किया। दोनों दलों के लोग मंच से निष्क्रमण करना ही चाहते थे कि प्रवेशद्वार पर उसी क्षण बादलों की कड़क-सा एक गर्जन सुन पड़ा।

वह गर्जन सुन पूरी सभा चकित हो उठी। एक युवक की तालियों से मेघनाद-सी ध्वनि हुई। वह युवक लंबे चरणों के कदम बढ़ाते उन्नत शिर से मंच पर पहुँचा। उस युवक का दृढ़ शरीर मंच पर ज्वालामय-सा लगा। दीर्घ शरीर पर विशिष्ट स्वर्णकवच आदित्य की आभा विकीर्ण कर रहा था। कानों के कुंडल अरविन्द-सुन्दर मुख को अधिक दीप्तिमय बना रहे थे। उसने भुजाएँ उठाकर, शीर्ष थोड़ा-सा अवनत करके, गर्वमिश्रित सम्मानभाव से आचार्यों का नमन किया। सदस्यों के नेत्रों और ओठों पर यही प्रश्न था—'यह अद्‌भुत मूर्ति कौन है ?'

"आचार्य," समीप उपस्थित अर्जुन की तरफ़ देखते कर्ण ने व्यंग्य व क्रोध की हँसी से कहा।

"अर्जुन ! क्या यह मंच सबके लिए बराबर नहीं है ? क्या सोच रहे हो कि तुम क्षत्रिय धर्म से भी अतीत हो ? वीर्यानुवर्तन ही क्षत्रियधर्म है। जो यह नहीं कर सकता, वह परनिन्दा करता अपनी वीरता की डींग हाँकता है। अगर वीर हो तो जीभ म्यान में रखकर शरों से संवाद प्रारंभ करो।"

कर्णार्जुन का द्वन्द्व पुनः प्रारंभ होने वाला था कि कृपाचार्य ने मंच पर आकर सभासदों को ज्ञापित किया, "कर्ण को पहले अपने वंश, माता और पिता का नाम बतलाना होगा। क्षत्रिय और जन-साधारण का द्वन्द्व शास्त्रसम्मत नहीं है।"

कृप की वाणी सुन वह युवक चौंक उठा। वर्षा में भीगे कमल की तरह कर्ण का शीर्ष

लज्जावनत हो चला। ओठ पीड़ा से थरथरा रहे थे। सिर झुकाये मौन कर्ण के सामने सुयोध
आकर खड़ा हुआ। उसने कहा, "बहस क्यों हो? यदि अर्जुन राजा से ही लड़ेगा तो मैं यहं
पर अद्भुत वीर तेजस्वी कर्ण का अंगदेश के अधीश के रूप में राजतिलक करता हूं।"

भाव-विभोर कर्ण ने सुयोधन को संबोधित कर कहा, "तुम्हारे इस राज्यदान का ऋ
कभी चुकता नहीं कर सकता। मुझसे जो भी चाहते हो, प्राण तक, माँग लो। इस तन में सां
की धड़कन जब तक रहेगी तब तक कर्ण सुयोधन का ही मित्र एवं हिताभिलाषी रहेगा।"

इन पुलकित क्षणों में एक वृद्ध दौड़ा-दौड़ा वहाँ आ गया। वह स्वेदसिक्त वृद्ध अधिर
था। अभिषेक-जल से सिंचित सिर झुकाये कर्ण ने काँपती ध्वनि में उसे 'पिता' कहक
संबोधित किया। मुकुलित करों से उसके चरणस्पर्श किये। सूत अधिरथ ने वस्त्रांचल से चरण
को ढक लिया। जरा पीछे हटकर खड़े होकर उसने पुकारा, "वत्स!"

उस वृद्ध के अश्रुजल ने कर्ण के सिर को फिर से आर्द्र बनाया। वह दृश्य देखकर बहुत
से लोगों के नयन सजल हो उठे। पांडवों के मुख पर तो उपहास खिला था। भीम ने अट्टहास
करते कहा:

"होमाग्नि के समीप का अन्न खाने की श्वान की जैसी इच्छा रहती है, अर्जुन से द्वन्द्
करने की तुम्हारी इच्छा भी वैसी ही है।"

कर्ण मौन! क्रुद्ध सुयोधन ने वीरों को ललकारा कि कोई माई का लाल हो तो धनु
र्धारी कर्ण का सामना करे।

अब तक सूर्यास्त होने और अंधकार छा जाने से पांडव एवं कौरव मंच छोड़ अपने
अपने महल की तरफ चले।

द्रौपदी को लगा कि युधिष्ठिर अब भी वह दृश्य देख रहे थे--कर्ण का तीर लगने से अर्जुन का
सिर कट जाने और धरती पर धड़ गिरने का दृश्य देख युधिष्ठिर फिर से काँप उठे थे। द्रौपदी
के मन में अर्जुन-विशिख सदृश शत-शत प्रश्न उठे।

दोपहर की धूप शिविर के द्वार को प्रकाशपूर्ण बना रही थी। उसके कोने में एक चादर
में चित लेटी कुन्तीदेवी को द्रौपदी ने नये विस्मय से देखा। अपने बलपूर्वक आत्मनियंत्रण के
बावजूद उसके मुँह से एक प्रश्न ऊँची आवाज़ में निकल पड़ा, "माता? संसार के सर्वनाश को
सूचित करने वाला वह रहस्य क्या था? सर्वनाश को सामने देखते हुए भी तुम्हारे ओठों को
जो मर्म चुपचाप पी जाना पड़ा वह कौन-सा है?"

द्रौपदी के प्रश्न ने कुन्ती को ज़रा भी विचलित नहीं किया। सहानुभूतिपूर्वक द्रौपदी
माता की शय्या के पास गयी।

आकाश की ओर देखती बैठी कुन्तीदेवी अपनी कहानी कह रही थी। बचपन से ही
उसका जीवन अभिशप्त रहा। पिता शूरसेन ने प्रतिज्ञापालन के लिए कुंतिभोज की पालित पुत्री
के रूप में उसका दान किया था। कुंतिभोज की राजधानी में अतिथि के रूप में देवर्षि दुर्वासा
पधारे। बालिका ने यथामति ऋषि की सेवा की। संतुष्टि से विदा लेते हुए दुर्वासा ने कुंती से
कहा, "भद्रे! तुम्हारी सेवाओं से अत्यंत तृप्त हूँ। साधारण मानव के लिए अप्राप्य एवं यशो-
दायक वरदान माँग लो।"

मुख झुकाये मौन खड़ी पृथा को देख ऋषि आगे बोले, "अगर तुम वरदान नहीं चाहती
हो तो अपनी इच्छा से देवताओं का आवाहन करने के एक मंत्र की दीक्षा दूँगा। उक्त मंत्र जपते
हुए जिस देव का आवाहन करो वह तुम्हारा हित करने तुम्हारे पास स्वयं पहुँचेगा।"

ऋषि की अप्रसन्नता एवं पिता की शापग्रस्तता की शंका से भीत कुन्ती ने दुर्वासा से वह मंत्र स्वीकार किया।

कन्या के मन में दुर्वासा के मंत्र को परखने का कुतूहल बढ़ता चला। उस दिन रजस्वला बालिका कुन्ती अकेली सोयी थी। प्रभात वेला में पूर्व दिशा में अरुणाभ भानुदेव उदय होता दिखाई दिया। कुन्ती के मन में अयाचित रूप से कुतूहल उमड़ पड़ा। उसने सूर्यदेव का ध्यान किया। आदित्य उसके पास आ गये। भयभीत कुन्ती को सांत्वना देते हुए सूर्य ने कहा कि तुम मेरे द्वारा गर्भ धारण कर एक श्रेष्ठ, वीर और सुन्दर पुत्र को जन्म दोगी। उसके शरीर पर जन्म से ही दिव्य कवच-कुंडल होंगे। इस पुत्र-प्राप्ति के पश्चात् तुम पहले की तरह कन्यका हो जाओगी।

इस तरह कन्या कुन्ती गर्भवती हुई। एक धात्री को छोड़ शेष सभीसे यह मर्म छिपा रहा। बाला ने यथासमय सूर्य के सारे लक्षणों से युक्त, सुन्दर व वीर पुरुष संतान को जन्म दिया। वह प्रिय विश्वासपात्र धात्री के साथ अश्वनदी के तट पर पहुँची। रक्षाबंधन और मंगलाचरण करके उसने बच्चे को एक पेटिका में रखा। हाथ-पाँव मारते नदीधारा में बहते जाते पेटिका को देखकर उस माता ने वनदेवताओं तथा सूर्यदेव से बच्चे के कुशल-मंगल की कामना की।

यह कहानी सुनाकर निस्पंद मौन हुई माता ने द्रौपदी का अश्रुजल पोंछना नहीं देखा।

उस दिन का श्राद्धकर्म पूरा हो गया। "केवल राज्यभोग के लिए भीषण व साहसिक कर्म किया। आखिर क्या हाथ आया ? भ्रातृहत्या का पाप। अभिमन्यु, कर्णपुत्र, कौरवपुत्र—उनकी विधवा युवतियों के दुर्भाग्य···" सोचते-सोचते सजल नेत्रों से मुख झुकाये युधिष्ठिर अपने शिविर को लौटे। द्रौपदी ने मौन भाव से उनका अनुगमन किया।

हथेली में गाल धरे दुश्चिताओं में लीन युधिष्ठिर और द्रौपदी के मुखमंडल अचानक तम्बुरुनाद सुनकर दीप्त हो उठे। नारद जी थे। उन्होंने आसन पर उपविष्ट हो प्रसन्नतापूर्वक हंसते हुए कहा, "युधिष्ठिर ! तुम लोगों का विशेष आनन्द देखने आया हूं।"

युधिष्ठिर ने अपनी मनोदशा और द्रौपदी की व्यथा का हाल उनसे निवेदन किया। उन्होंने अपने कथन में बार-बार दु.ख प्रकट किया, "महात्मा कर्ण के भ्राता होने की बात मुझे मालूम नहीं थी—हम ज्येष्ठ भ्राता न जानकर उसके प्राण हरने के लिए अधीर थे। उसने हमें प्राणभिक्षा दी, पर हमने उसकी हत्या की। इस पाप-चेतना से हृदय विदग्ध हो रहा है।"

नारद ने विधि के अवर्णनीय आदेश पर प्रकाश डालते हुए परशुराम से कर्ण के विद्या-ग्रहण की कथा सुनाई। उन्होंने कर्ण के जन्मजात कवच-कुंडलों के दान और उस दान के कारण उसकी अवध्यता के नष्ट होने की कथा भी सुनायी।

तटों से टकराती, शिलाखंडों से कठोर नादपूर्वक लिपटती किसी अज्ञातवस्तु के पीछे अपनी स्थिति को भूलकर बहती गंगाधारा का क्रन्दन द्रौपदी के बदन के भीतर उसकी शिराओं की तह में समा गया। वह अपनी चिंताओं का बोझ स्वयं वहन करती निश्चल बैठी रही।··· उसकी सारी सुखाभिलाषाएँ अस्त हो चुकीं। युद्धांत के कुरुक्षेत्र की शून्यता से भी भीषण इस शून्यता में एकांतता का स्वरूप—पूर्ण अन्यत्व का रूप आत्मविभ्रांति की शंका के बिना स्पष्ट बाह्यरेखाओं में चित्रित खड़ा है। अन्यत्व का वह स्वरूप दर्शन व चिंतन की शक्ति को भयाक्रान्त कर रहा है।

"द्रौपदी, तुम एकाकिनी हो। सब वस्तुओं से, सब लोगों से अलग, जीवन से ही अल पूर्ण एकाकिनी हो।"

स्वयं अपने से अलग, सूना होना ! उसने मन का आमंत्रण भयभावना और दीनता सुना।

धर्मात्मा युधिष्ठिर ! उस स्वच्छ हृदय ने आचार्य की तरह, पिता की तरह एवं प्रिय पु की तरह उसे प्यार किया। भोले युधिष्ठिर ! पर प्रश्न उठता है कि क्या सहानुभूति प्रेम है इसका क्या उत्तर दिया जाये ?

एक व्यक्ति का ध्यान करती बड़ी हुई। वह उसके सामने आया, पर अकेले नहीं। ए की जगह पांच वीर पति के रूप में। उसे वे प्राप्त हुए। उसने विधाता से शिकायत नहीं की सबको प्यार किया। अंत में प्रतिकार के घोरव्रत के कारण अपने स्त्रीत्व का भी निषेध करतं तेरह वर्ष रही। उसे स्मरण आया—पतिसेवाएं करते विपदा-भरे वन में पतियों के साथ सोना—पर पत्नी के रूप में सह-शयन न करना—अंत में व्रत पूर्ण हुए और प्रतीक्षा की सफलता क किनारा नजर आया। परंतु उसकी ओर आँख भर देख भी नहीं सकी क्योंकि वह स्थान पिता भाई व बन्धुजन की श्मशानभूमि सिद्ध हुई।

द्रौपदी का दुःख सिर्फ उसका दुःख है। युधिष्ठिर को तो कर्ण की मृत्यु पर दुःख हो रह है।

"द्रौपदी ! क्या तुमसे अधिक अभिशप्त अन्य कोई नारी मिल सकती है ?" उसके नेत्र के सामने स्मृतियों ने सिर उठाया—ज्वार के समय सागरतट पर जैसे केकड़े उठते हैं।

युधिष्ठिर के जुआ खेलने की बुरी लत के बारे में सोचती चिंता-विवश रजस्वला द्रौपदी अंतःपुर के कक्ष| में अकेली जमीन पर बैठी थी। अपने कमरे में वात्याचक्र की तरह घुस आये दुःशासन को देख वह तिलमिला उठी। रजस्वला होने के कारण अकेली साड़ी पहनकर चादर पर बैठी वह लज्जा व भय से अवनतमुखी खड़ी रही। विकट हास और गर्जन करते दुःशासन ने कहा :

"दासी ! पांडवपत्नी ! युधिष्ठिर तुम्हें भी जुए में दाँव लगाकर हार चुका है। अब तुम सुयोधन की दासी हो। चलो।"

द्रौपदी के तर्क या अनुनय-विनय से कोई लाभ नहीं हुआ। दुःशासन उसकी केशराशि को मुट्ठी में लिये जबरदस्ती उसे घसीटता राजसभा चला। राजसभा में बैठे भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य और अतिथि नरेशों ने राजसुता की यह दशा देख लज्जा व दुःख से सिर झुका लिया।

सुयोधन के समीप बैठा कर्ण दुःशासन का अभिनन्दन करते हुए ज़ोर से हंसा और घोषित किया, "द्रौपदी दासी ही है।"

कर्ण की घोषणा सभा में गूंज उठी। करुण विलाप करती द्रौपदी ने निवेदन किया :

"पुत्रों और पुत्रवधुओं के अभिभावक कुरुमुख्यो ! यह नीच मेरे केशों से पकड़कर मुझे झंझोड़ रहा है। इसका दर्द मुझसे नहीं सहा जाता। मेरे सवाल का जवाब दो। क्या मैं सुयोधन की दासी हूं ?···राजाओ, सभासदो, मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देते ?" द्रौपदी बार-बार प्रश्न दुहराती रही।

सब मौन थे। तब सुयोधन के भाई विकर्ण ने सभा को संबोधित कर कहा, "सभासदो, द्रौपदी के इस प्रश्न का उत्तर कोई क्यों नहीं दे रहा है ? हिम्मत से उत्तर न देने पर हमारे वंश पर महापातक लगेगा। मैं स्वयं कहूंगा—यह पांचों पांडवों के समान अधिकार की धर्मपत्नी है।

पांडवों के ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर स्वयं अपनेको दाँव लगाकर हार गये थे। इसके बाद द्रौपदी का दाँव लगाया था। इसका उनको अधिकार नहीं था। अतः सुयोधन ने द्रौपदी को जुए के दाँव में नहीं पाया है। यह किसीकी दासी भी नहीं है।"

निन्दास्वर में कर्ण ने विकर्ण की बातों का खण्डन किया। उसने दुःशासन से कहा, "दुःशासन ! ये पांडव, पांडवपत्नी और सारे द्रव्य सुयोधन के हो चुके हैं। इन दास-दासियों के आभूषण एवं बहुमूल्य वस्त्र शीघ्र उतरवा लो। समय गंवाओ मत।" दुःशासन ने वही प्रारंभ किया।

कर्ण ने द्रौपदी से कहा, "द्रौपदी, तुम सभा में कुलस्त्रियों की तरह विलाप क्यों करती हो ? दासी हो। अपने बहुमूल्य वस्त्र उतारकर दासीजनों के साथ सुयोधन के सेवकवृन्द में मिल जाओ। तुम्हारे ये पति तैल से खाली तिलहन के बीजों के समान बेकार हैं। सुयोधन के सेवकों में से किसीका वरण कर आनन्द से रहोगी तो वह भी तुम्हारे समान औरत के लिए गलत काम नहीं होगा।"

दुःशासन द्रौपदी के वस्त्रों को उतारने लगा तो अनेकों घोर दुःशासन हुए। गांधारी उनसे भयाक्रांत हो गयी। विदुर से घटनाएँ सुनकर वह सुयोधनमाता धृतराष्ट्र के पास दौड़ी-दौड़ी आयी।

तेरह वर्ष व्यतीत हो चुके। अब भी सारे दृश्य ज्यों के त्यों स्मरण हैं। उस दिन मन में धधक उठी द्वेषज्वाला अभी तक नहीं बुझी। वह बुझेगी भी नहीं। अब भी द्रौपदी को कृष्ण का नाम लेकर रोने की इच्छा हुई।

कैसा भीषण नाद सुनाई दे रहा है। कितना घननाद ! किसका ? वह द्रौपदी की ही आवाज़ थी। यह पहचानकर वह सभीत और आश्चर्यचकित हो उठी। हस्तिनापुर से दौत्य में पराजित कृष्ण लौटे थे। कुन्ती ने युधिष्ठिर को सन्देश दिया, "मंदबुद्धि युधिष्ठिर ! अमर्षी बनकर शत्रु मध्य में अग्निज्वाल की तरह धधक उठो !" आकाश रक्ताभ हो उठा। भयभीत नेत्रों से द्रौपदी वह देखती रही। उसने देखा—खूनी बादलों के बीच में लाल-लाल पर पसारे मंडराता एक गरुड़ एक जगह बैठा अपने पाँवों के पंजों में किसी जीव को अटकाये चोंच से उस जीव की अंतड़ियों को कुतर रहा था, वह जीव कुन्ती थी, वह तड़प रही थी। इसपर पक्षी ने अपनी चोंच कुछ ढीली कर दी। रक्तमय अंतड़ियाँ द्रौपदी के गले पर गिरीं। वह चौंककर चीख उठी, "माँ !" द्रौपदी भयभीत हो उठी। वह कुंती के घुटनों से लिपट गयी। उसने कहा, "माता ! तुमने एक भी बार कर्ण से क्यों नहीं कहा कि वह तुम्हारा पुत्र है ? उसे उपदेश देकर तुम इस सर्वनाश को रोक सकती थीं।"

प्रश्न सुनकर कुंती चकित हो उठी। उसके मुखमंडल पर कितने ही भाव उदय होते, बदलते गये। काफी समय बाद उसने अपने कथन के शेषांश के रूप में कहा, "कर्ण की माँ उससे मिली। सिर्फ़ यह बताने के लिए उसके पास गयी कि वह कुन्ती का पुत्र है।" दानार्थियों की प्रार्थना सफल करने वाले कर्ण से युधिष्ठिरादि के प्राणों की भिक्षा माँगने के लिए की हुई अपनी यात्रा का पूरा विवरण द्रौपदी को उसने सुनाया।

काँपते शरीर से वह कथा सुनाती कुंती को उद्वेगसहित रोकते हुए कर्ण ने कहा, "इन कथाओं से आत्मनिन्दा के सिवा कोई लाभ नहीं। जिस समय यह जानना था उस समय कर्ण ने यह नहीं

सुनी। सुनाने की कृपा इस माँ ने नहीं दिखायी। देवपुत्र कर्ण नीच पुत्र, निन्दित पुत्र होकर बढ़ा। अब उस सूत को यह सब क्यों जानना है ? चन्दन-खंडों से सजी चिता दिखाकर श्मशान-वासी लाशों को प्रलोभन देने का व्यर्थ कर्म ! वृथा व्यायाम ! हम यह दृश्य शीघ्र समाप्त करें।"

कर्ण की वाणी कठोर हुई, "हे पांडवमाता, क्षत्रिय नारी ! सूत कर्ण तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार नहीं कर सकता। वह अधर्माचरण नहीं करेगा। नीच भीरुता नहीं करेगा।"

कुंती ने कहा, "तुम ठीक कहते हो बेटा। तुम्हारी माता स्वार्थी है। अपने स्वार्थ को उसने कभी न बुझता अग्निकुंड ही पाया। वह राजपुत्री थी। महाराजपत्नी थी। विश्वैकवीर छह संतानों को जन्म दिया। फिर भी वह बच्चों के साथ बाघ से डरती मादा भेड़िया के समान थर-थर काँपती थी। तेरह वर्ष स्वाभिमानहीन, परान्नभोजी थी। दिन-रात मन भयचकित था कि बच्चे कहाँ किस वन में कैसे भटक रहे हैं। परस्पर पहचाने बिना एक-दूसरे के खून के प्यासे पुत्र युद्ध के लिए तैयार खड़े हैं। मैं स्वार्थान्धता से ही आयी हूं। पुत्रवात्सल्य से अंधी माता इस संसार का सबसे स्वार्थी जीव है।"

कंठनाल को चीरती-सी एक तीव्र ध्वनि निकली, "माँ !" माता और पुत्र आश्लेष में लीन हुए। पुत्र के अत्युद्धत रूप को अपनी दुबली भुजाओं से लपेटे उसके शरीर पर अपना शरीर धारे वक्ष की ओर अपना मुख उठाने में भी असमर्थ बन गीला मुख पेट से टिकाये वह रह-रहकर काँपती खड़ी थी।

कर्ण के मुख पर सफलता, की दीप्ति थी, "माँ, तुम्हारा दौत्य विफल न हो। तुम्हें वचन देता हूँ कि मौका मिलने पर भी अर्जुन को छोड़ अन्य चार भाइयों में से किसीका वध नहीं करूँगा। तुम्हारी पाँच संतानें अमर रहें।"

कर्ण चला गया।

कुन्ती ने कथा समाप्त कर देखा कि द्रौपदी के भीगे मुखमंडल पर आत्मविस्मृति का चिह्न था। वह उसका अर्थ समझने के प्रयत्न में मौन हो गयी।

द्वितीय खंड

वनवास के प्रथम प्रतिषेध में द्रौपदी ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया था, "सुयोधन को सारे श्रेय और आपको केवल दुःख देने वाली किस्मत कैसी किस्मत है ?"

दुःखित मुखाकृति से युधिष्ठिर ने उसे 'नास्तिक' पुकारा था। "तुम नास्तिक की तरह तर्कवाद करती हो। मैं तुम्हारी तरफ़ से भगवान से क्षमा माँगता हूँ।"

क्या नास्तिक की उपाधि पाकर आज द्रौपदी भयचकित होगी ? जीवन की कल्पनाओं का ध्वंस मृत्यु से कितना भीषण है !

उसने सोचा, मृत्यु जीवन की सहज समाप्ति नहीं है। संगीत के बीच में थम जाने की रुकावट ही मौत है। अधूरा गीत अपूर्ण रह जाता है। परन्तु जिस जीवन की आस्था एवं कल्पना क्षीण-शिथिल है वह दाहसंस्कार से अपवित्र एवं दुर्गंध वमन करता जीवित जड़ है। द्रौपदी को अनुभव हुआ कि गंगातट का श्राद्धकारियों का संकेत ऐसे पंडों का ही शिविर है।

सर्पदंशन-से पीड़ित व भविष्य पर सोचते बैठे युधिष्ठिर को द्रौपदी के प्रश्न ने चौंका दिया। वह प्रश्न कर रही थी, "युधिष्ठिर ! नीच सुयोधन को जन्म देने के लिए महाव्रता गांधारी का पवित्र गर्भ क्यों चुना गया ? वह पवित्र मातृत्व पुत्र-सत्क्रियाओं से क्यों वंचित

रहा ? धर्मात्मा ! तुम्हें जीवित मृत्यु मिली, सुयोधन को वीर स्वर्ग। सत्य व धर्म का उल्लंघन कभी न करने वाले कर्ण को आत्मनाश, शकुनि को वीर स्वर्ग। दुःशासन को स्वर्ग में वीरपूजा। भीष्म पितामह को शरशय्या। इससे भी संतुष्ट न होकर महाव्रती पितामह को युद्धक्षेत्र में घुलते कीड़ों से खायी जाने वाली लाशों को देखते शरशय्या पर लेटे रहने की विवशता। इसका गूढ़ मर्म क्या है, युधिष्ठिर !"

बड़ी तीव्रता से युधिष्ठिर ने पुकारा, "कृष्णे !" उस पुकार में भरी व्यथा पर द्रौपदी स्तब्ध हो गयी। उसे मालूम नहीं था कि उसके शब्द सुनते-सुनते धर्मराज का मानव-हृदय शर-शय्या पर पड़े भीष्म के पास पहुँच चुका था।

भीष्म एवं कर्ण के विचित्र संबंधों का विस्तृत विवरण सुनने के लिए दीप्त जिज्ञासा से सामने बैठे द्रौपदी और युधिष्ठिर को संजय बताने लगे।

स्वार्थ के नाम तक से अनभिज्ञ भीष्म महाव्रती का अभिनन्दन किसीने नहीं किया। आत्मरक्षा का ध्यान रखे बिना सत्यव्रत पालन का अभिनन्दन नहीं किया गया। मन में अधर्म-चिन्तन के बिना की हुई दृढ़तर धर्मचर्या पर दया नहीं दिखायी गयी। विधि की इन दुरूह क्रियाओं का आधारतत्त्व क्या है ? जादू दिखाकर मानव को चमत्कृत करना और साथ ही साथ मानव को जादू का मोहरा बनाना विधि की इस दुहरी लीला का सार क्या है ?

संजय ने बताया कि महात्मा प्रियभाषी और सत्यभाषी भीष्म नीच कर्ण को प्रतिदिन किस प्रकार फटकारते थे। ऐसे ही एक दृश्य का स्मरण करते संजय बोले, "युधिष्ठिर ! जिस दिन मैं तुम्हारा शान्ति-संदेश लेकर हस्तिनापुर पहुँचा और भरी राजसभा में प्रस्तुत किया उस दिन कठोर विवाद चला।

"भीष्म ने अपना मत दिया, 'सुयोधन ! युधिष्ठिर का राज्यांश उसे देकर बन्धुभाव से रहना ही मेरी समझ में श्रेयस्कर है। दूसरों के बल पर गर्व करते सत्यधर्मादि का उल्लंघन करना तुम्हें या कुरुवंश के लिए श्रेयस्कर नहीं है।'

"द्रोणाचार्य ने उसका समर्थन किया। कर्ण ने उन दोनों का प्रतिवाद करते हुए कहा, 'राजन, मैं भी कुछ दिव्यास्त्रों का ज्ञान रखता हूँ। इन दोनों आचार्यों के आचार्य से मैंने धनुर्वेद का अध्ययन किया। ब्रह्मास्त्र आदि दिव्यास्त्रों का प्रयोग मुझे आता है। पराजय की कल्पना से भयभीत होकर हम कायरों की तरह शान्ति-कामना क्यों करें ?'

"यह सुनकर बड़ा निडर अट्टहास करके भीष्म बोले, 'अरे सूतपुत्र ? इंद्र से एक भाला लाने के दावे पर तू इतना दंभी बना है। अर्जुन से युद्ध करना तो दूर, उसका नाम लेने तक की योग्यता तुममें नहीं। तू मूर्ख ! नीच कुलजात ! कुरुवंश को क्षयक्षीण कर प्राण देने की शीघ्रता क्यों कर रहा है ?'

"कठोर अपशब्द सुन दुःखित होते हुए भी कर्ण ने बड़े संयत भाव से धृतराष्ट्र से निवेदन किया, 'महाराजन ! पितामह अकारण मुझे व्यंग्य से कष्ट पहुँचा रहे हैं।' फिर भीष्म से कहा, 'गांगेय ! आपका प्रतिवाद करने का अविवेक मुझमें नहीं है। परन्तु अकारण आपने मुझे कठोर वचन सुनाये, इसके बदले मैं बताता हूँ, आगे मैं आपके साथ खड़े होकर धनुष नहीं उठाऊँगा। जब आप धनुष नीचे रख दें तब संसार को विदित होगा कि कर्ण धनुर्विद्या जानता है कि नहीं।'

"सम्पूर्ण शरीर में तीरों से बिंधकर रथ पर गिरे भीष्म के लिए वे बाण ही वीरतल्प बने। उस शरशय्या पर लेटे भीष्म ने अंजलि बाँधे राजाओं से कहा, 'उचित उपधान देकर सिर

को सहारा दो ।'

" चारों तरफ़ से नृपगण बहुमूल्य कौशेय उपधान ले दौड़े आये । भीष्म ने हास और वात्सल्य से युक्त मन्दहास से कहा, 'इन सबसे मेरे सिर को आराम नहीं मिलेगा ।' भीष्म की आँखें राजाओं के बीच में खड़े अर्जुन पर अटक गयीं । उन्होंने अर्जुन से भी अपनी इच्छा कही। अर्जुन ने फ़ौरन गाण्डीव का संधान कर तीन शर वेधकर भीष्म के शिरोभाग के नीचे शरोपधान रचा । भीष्म संतुष्ट हुए ।

" थोड़ी देर बाद उनके मुँह से 'पानी' की पुकार सुन पड़ी । राजा लोग शीतल जल लेकर आगे बढ़े । भीष्म का मतलब इससे नहीं था । अर्जुन ने भीष्म का संकेत समझ लिया और गांडीव पर पार्जन्यास्त्र का संधान किया । समीपवर्ती धरती से जलधार फूट निकली और भीष्म के होंठों पर स्वयं जा गिरी । उन्होंने अर्जुन की प्रशंसा की । भीष्म ने अंतिम निवेदन के रूप में सुयोधन से अनुरोध किया, 'वत्स, यह युद्ध मेरे साथ समाप्त हो जाय ।' सुयोधन ने मौन धारण किया । भीष्म फिर से मूर्च्छित हुए ।

" आधी भीषण रात्रि । कुरुक्षेत्र की रणभूमि काली चादर-सी हो गयी । शरशय्या के पास दो छोटी-छोटी मशालें जल रही थीं । बाहर कवाट पर कर्ण का उद्धत रूप देखकर प्रहरी विस्मित हुए । कर्ण ने पहले दुःखावेग से क्षण-भर मुख ढक लिया । बाद में वह कांपते कदम रखते भीष्म के पास पहुँचा । उसने दबी आवाज़ में निवेदन किया :

" 'महात्मन् देवव्रत ! राधेय कर्ण आपको प्रणाम कर रहा है । आँखें खोलकर मेरी तरफ़ ज़रा देखिये ।···अहित भाषण से आपको हमेशा कष्ट देता रहा हूं ।'

" भीष्म की आँखों में एक नयी ज्योति उदय हुई । उन्होंने अपनी बायीं भुजा बढ़ाकर उस उद्धत गात्र को अपने शरीर से सटाकर खड़ा किया । उसका बदन सँवारते हुए उन्होंने कहा, 'मेरे प्रतियोगी ! आज तुम मेरे अधीन हो गये । इस विजय से मेरी व्यथा दूर हो चुकी । यदि तुम न आते तो तुम्हारा श्रेय भंग होता । तुम्हें एक गुर बताता हूँ । मुझे विदित था कि तुम अर्जुन के भाई हो और उससे भुजबल व शस्त्रबल में बड़े हो । सब कुछ जानते हुए मैं तुम्हारा तेजोवध करता था तो सिर्फ़ इस ध्येय से कि कुलछिद्र न उत्पन्न हो । मैं तुमसे अधर्म का आचरण नहीं कर रहा था । परन्तु मैंने अपने प्रति सत्यविरोध का आचरण किया । वत्स···अँधेरे से आता वह जंबूक-क्रन्दन सुन रहे हो ? वह देवव्रत की इच्छा का अंतिम रुदन है । उसके समान पूरे शरीर में व्रणविद्ध होकर मृत्यु की प्रतीक्षा में तड़पने वाले उसकी अभिलाषा का क्रन्दन ही तुमने सुना । मैंने इस वंश को परस्पर वध से, सर्वनाश के गर्त में गिरने से रोकने के लिए अपनेको भी भूलकर प्रयत्न किया ।···सारे क्षत्रिय वंश को समूल नाश करने वाला यह संगर इसके साथ समाप्त हो । मेरी आयु के साथ युद्ध भी समाप्त हो ।'

" दीन स्वर में कर्ण ने निवेदन किया, 'आपका यह हित मैं कैसे आचरण करूँ ? जिस स्वधर्म ने आपको बन्धन में डाल दिया उस स्वधर्म के बन्धन से मैं कैसे छूट सकता हूं ?'

" भीष्म ने कहा, 'आयुष्मन् ! तुम हमेशा तुम ही हो । तुमने अपने योग्य शब्द ही बताये । लक्ष्य की पराजय से मेरा जीवन ही पूरी पराजय सिद्ध हुआ है ।'

" भीष्म के मुखमंडल को भावशून्य होते देख कर्ण ने चरण स्पर्श कर कहा, 'पितामह, आपके पीछे धर्ममार्ग के आचरण का आशीर्वाद दीजिये। मेरी भूलों को माफ़ कीजिये ।'

" बड़ी मुश्किल से क्षीण स्वर में भीष्म ने कहा, 'पुत्र ! मेरे आशीर्वाद तुम्हारे लिए सुलभ हैं । क्रोध व द्वेष त्याग कर यथावीर्य, यथाशक्ति तुम क्षत्रिय धर्म का निर्वाह करो । तुम्हें स्वस्ति हो ।'

" भीष्म का दाहिना हाथ छाती से उठकर थकान के कारण फिर से वहीं गिर पड़ा ।
" कुरुक्षेत्र के अंधकार में होती कर्ण की पगध्वनि ने मौन को चौंका दिया। "

युधिष्ठिर के पास संजयाभिमुख बैठी द्रौपदी का मन कुन्ती को वचनदान देकर लौटे कर्ण के रूप पर ही केंद्रितथा । उसके मन में एक अस्पष्ट अपराध-चेतना थी । उसने प्रश्न किया, "संजय, क्या कुन्ती को कर्ण का दिया वचन पूरा हो सका ? क्या युधिष्ठिर आदि भाई सचमुच कर्ण को वध के लिए सुलभ रूप में मिले और कर्ण ने उन्हें प्राणदान दिया ?"

संजय ने कर्ण के कुरुक्षेत्र-प्रवेश का वर्णन किया : "कर्ण ने सात दिनों तक सुयोधन का सेनापतित्व किया । कर्णार्जुन के बाण लगते-लगते क्षत्रिय-शीर्ष पके पत्तों की तरह झड़ रहे थे । जयद्रथ-वध के प्रसंग पर भीम और कर्ण का सामना हुआ । भीम के शरों को खंड-खंड कर उसने कुछ शरों से भीम को मूर्च्छित-सा कर डाला । उसके पेट में धनुष के छोर से कुरेदते हुए उसके पेटूपन की हँसी उड़ाई । उपदेश दिया कि भीम का घर लौटना ही उचित है । इसी बीच अर्जुन गांडीवसहित आ गया और वे दोनों भिड़ पड़े । कर्ण ने उक्त प्रसंग पर जानबूझकर भीम को जीवनदान दिया । यही अन्य तीन भाइयों के विषय में भी दुहराया गया ।

" कर्ण से लड़ते-लड़ते युधिष्ठिर बुरी तरह घायल होकर शिविर लौटे तो यह खबर सुनकर अर्जुन से रहा न गया । युद्धस्थल से भाई के शिविर में पहुँचा । युधिष्ठिर ने कर्णवध को संपन्न समझकर अर्जुन की वीरता को साधुवाद देना प्रारम्भ किया । जब अर्जुन कर्णवध की अनुज्ञा और आशीर्वाद माँगने लगा तब उपहास एवं क्रोध से युधिष्ठिर ने कहा, 'वाह अर्जुन ! तुम्हारे वचन बहुत अच्छे हैं । हमने विश्वास किया था कि तुमसे बढ़कर कोई धनुर्धर नहीं है ! तुम तो गांडीव धनुष के लिए ही अभिशाप हो । कपिध्वज तथा महारथ के अयोग्य हो । अपना गांडीव कृष्ण को सौंपकर उनके हाथ से कशा लेकर रथाश्वों को हाँक लो ।'

" दूसरे के हाथ में शस्त्र दे देने की आज्ञा सुनकर कोपांध अर्जुन बड़े भाई की ओर तलवार लिये बढ़ा । ऐसे दृश्य की कल्पना तक नहीं हो सकती थी कि अर्जुन तलवार से युधिष्ठिर का शिरच्छेदन करे । हमेशा की तरह वासुदेव ने ही अमंगल का निवारण किया । कर्ण के कठोर शब्दों से विद्ध युधिष्ठिर का हृदय एकदक विचलित हो चला था । तभी ऐसे शब्द उस हृदय से निकले थे । "

द्रौपदी के मन ने धीरे से कहा, 'आदमी आदमी होता है । हर आदमी कमज़ोर होता है ।'

द्रौपदी का मन सहानुभूति की प्रबल धार में अपनी नाव खेने लगा । अपने दुर्भाग्य से बड़े दुर्भाग्य के सामने भी सिर ऊँचा किये खड़े उस रूप के सामने द्रौपदी का हृदय अत्यधिक सम्मान व सहानुभूति के कारण अवनत हुआ । अपने ही वध करने के लिए कमर कसकर चलने वालों को उदारतापूर्वक प्राणदान देना, जीवन-भिक्षा लेने की अपमान-चेतना से जलते मानियों की अनुपम शत्रुता का परम पात्र बनना—कर्ण के दुर्भाग्यपूर्ण जीवन के सामने अपने दुर्भाग्य द्रौपदी को बिलकुल छोटे-मामूली अनुभव हुए । आत्मनिन्दा में जलते-तड़पते युधिष्ठिर की व्यथा के सामने भी द्रौपदी की व्यथा क्या तुच्छ नहीं है ?

युधिष्ठिर के रुँध-रुँधकर निकलते निःश्वास कानों से सुनते हुए द्रौपदी अँधेरे की ओर नेत्र किये लेटी थी । उसके सामने कौन-सा रूप आ रहा है? आकाश को चूमने वाला वह काला-डरावना रूप कौन-सा है ? उसे देख द्रौपदी को हँसने की इच्छा हुई । फिर अकारण ही वह ज़ोर से हँस पड़ी । क्रोधी रूप ने गगनभेदी स्वर में प्रश्न किया, "द्रौपदी ? क्या तुम पतिव्रता हो ?" तब उसने दिशाभेदी स्वर में सचमुच अट्टहास किया ।

अपनी हँसी की उच्च ध्वनि से स्वयं भयचकित द्रौपदी आँखें खोल तड़पकर उठ खड़ी हुई। उसने मन ही मन सांत्वनापूर्वक स्मरण किया कि उस अट्टहास से पति की निद्रा का भंग तो नहीं हुआ। 'ईश्वर सचमुच दयालु है।' उसने बारंबार मानो स्वयं विश्वास करने के लिए सोचा, 'पतिव्रता धर्म की दिव्यमूर्ति का भंजन मैंने कल्पना तक में नहीं किया है।' उसके साथ उसे और एक प्रश्न सुनाई पड़ा, 'क्या तुम्हें कभी स्नेह प्राप्त हुआ है ?' यह सुनकर उसका जी तड़प उठा। एक नया प्रश्न उसे सुन पड़ा, 'द्रौपदी ! आज जीवित पाँच पतियों से युक्त होते हुए भी क्या तुम सनाथ हो ? तुम्हें चार पतियों की मृत्यु के वैधव्य-दुःख से किसने बचाया है ?'

उसने वस्त्रांचल से गीले मुख की ओस की बूँदें पोंछ डालीं। सिर की जलार्द्रता को दायीं हथेली से उसने सँवारा। हर जगह चिनगारियाँ जलती-सी अनुभव हुईं। उसके नयन चक्रवाल की तरफ़ धीरे-धीरे घिसते बढ़े।

संजय ने कर्णार्जुन के अनश्वर महासंगर का वर्णन धीमे शब्दों में प्रारंभ किया। द्रौपदी, युधिष्ठिर और कुन्ती—भयभीत नेत्रों वाली तीन मूर्तियाँ वह सुन रही थीं।

गजश्रृंखलांकित कर्णध्वज और अर्जुन का कपिध्वज अंबरमध्य एकसाथ जब विराजे तब सारी सेना विकंपित हो उठी। गांडीव तथा विजय-कार्मुक के मेघगर्जन सदृश टंकार ने दिगन्तों को दहला दिया। कर्णार्जुनयुद्ध देखने नभ पर उपस्थित देवचारण दल चकित हुए। इंद्र और सूर्य ने विधाता से अपने-अपने पुत्र की विजय-प्रर्थना की—"मेरे पुत्र की विजय हो, मेरे पुत्र की विजय हो !"

जय-पराजय का निर्णय कठिन बनाते हुए युद्ध जारी था। अर्जुनशरों ने कर्ण का कवच चीरकर सूर्यपुत्र को व्रणित किया। कर्ण ने अत्यंत घोर अस्त्र अर्जुन को लक्ष्य कर मारे जो अर्जुन का कवच भेदकर शरीर में चुभ गये। यह देख कर्ण अट्टहास कर उठा।

कृष्ण ने क्रुद्ध होकर अर्जुन से कहा, "यह क्या मज़ाक़ कर रहे हो ? दुर्दम शत्रु को मारने के लिए शुभघड़ी देखना मूर्ख का काम है। इस सूतपुत्र के महालक्ष्य से उठने के पहले शर प्रयोग कर इसे निष्प्राण कर दो।"

अर्जुन के बाण ने देवाभ कर्ण का सिर छेदन कर नीचे गिराया। प्रभंजन से धराशायी बने स्वर्णाद्रि की तरह वह तेजोमय पार्थिव शरीर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

शस्त्रशून्य रथ लेकर दुःखित आचार्य शल्य सुयोधन के पास आये और उन्हें सांत्वना के शब्द सुनाने लगे।

संजय के सामने बैठे लोगों के शरीर ही वहाँ उपस्थित थे। हर एक का मन अलग-अलग विचार-दिशा में विचर रहा था।

उपसंहार

अशान्त मन के टूटे दर्पण में एक भीषण स्वप्न का प्रतिबिंब निखरता आ रहा है। द्रौपदी के स्वेदपूर्ण मुख की नसें चंचल हुईं। शून्यता-चेतना तक को कंपाते हुए विधि एक दावाग्नि धधका करके किसका संहार करने पर तुला है !

दिनों पहले, वर्षों पहले, युगों के पहले द्रौपदी ने मन में आनन्द और केशराशि में कुसुम धारे जगत्प्रभु से सुखनिद्रा की प्रार्थना की थी। प्रभु ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की थी। उसने

उस दिन निद्रा का सौभाग्य दिया। सारी प्रतीक्षाएँ, सुख, कल्पनाएं, आदर्श, आस्थाएँ—सब कुछ को चिता में भस्मसात् कराने का दृश्य सजाने के लिए उसे निद्रा का सौभाग्य दिया। उस भीषण अग्नि के ताप से जीवन के आधार विश्वासपात्र शिथिल हुए। नये ज्ञान के प्रभंजन से अतीत जीवन के प्रकाशदीप एक-एक कर बुझ गये। आज जीवस्पन्द का धरातल अभेद्य अंधकार बना है।

अपने स्वप्न का स्वरूप वह किसीको समझा नहीं सकेगी। श्याम पृष्ठभूमि में बड़ा अरुणाभ प्रकाशवृत्त ! उसके भीतर वह भीषण दृश्य स्पष्ट दिखाई दे रहा है। कर्ण एवं अर्जुन रथ से धरती पर उतरकर क्रुद्ध खड़े हो परस्पर बाण चला रहे हैं। मांस में शरों के चुभने की दिल दहलाने वाली 'किर-किर' ध्वनि सुनकर भयाकुलता से देखा। तब उसने जो दृश्य देखा वह स्वप्न में भी विश्वसनीय न था। अर्जुन शरों का लक्ष्य बनकर खड़े उद्धृत कर्ण-विग्रह के विशाल स्कंधों पर स्वच्छन्द बैठे अपने वत्सों की मूर्तियाँ। दायें कंधे पर प्रतिविंध्य और सुतसोम थे। दूसरे कंधे पर कृतवर्मा, शतानीक और श्रुतसेन के मुख स्पष्ट दीख रहे थे। अर्जुन के बाण छह सिरों के कर्ण को लक्ष्य कर तेजी से चल रहे हैं। प्राणों के प्राण सन्तानों के नाम लेने की शक्ति उस समय नहीं रही। उसे अनुभव हुआ कि उस समय उसके कंठनाल से यही क्रन्दन उठा, "बाण मत मारो अर्जुन ! बाण मत मारो अर्जुन !" उस शब्द-स्फोटन में अपने भी शीर्ण-विशीर्ण होने का आभास उसे हुआ। वह छटपटाकर उठी मानो गर्त में गिर गयी हो। अंधेरे की ओर आँखें खोले बैठी द्रौपदी के सामने वह भीषण दृश्य अपना भयानक रूप लिये दुरन्त स्पष्ट खड़ा था। उसका प्रतिबिम्ब अब भी मनोमुकुर में है। पवित्र आसन्दियों (पीठों) से बिम्बों को ढहकर गिरते देखकर दुःस्वप्न मस्त हो अट्टहास करते हैं।

छायातरु से सिर व शरीर टेके वह आर्त हो बैठी रही। उसे लगा कि जड़ों के घेरे अजगरों की तरह तड़प रहे हैं। वह सोच रही थी, 'इस वृक्ष की तड़प के साथ मेरा बदन भी तड़प रहा है।'

बड़े यत्नपूर्वक आधी खोली आँखों से द्रौपदी ने चारों ओर देखा। निर्मेघ नीले नभ पर तीक्ष्णता से ज्वलित सूर्य बीच-बीच में एक काला ज्योतिर्गोल बन रहा है। प्रकाश और तम क्षण-क्षण में बदल-बदलकर आकाश में छा रहे हैं। उस वृक्ष से अपना तन व बदन जोर से एकदम लिपटाये द्रौपदी ने आँखें अच्छी तरह बंद कीं।

"द्रौपदी !"

आलस्य की उस घड़ी में भी उस दयार्द्र सम्बोधन को द्रौपदी की शिथिल प्रज्ञा ने पहचाना। परन्तु उसके नेत्र नहीं खुल पाते। बंद पलकों के बीच में यत्नपूर्वक बनाई दरार से उसने एक परछाईं की तरह गंदले जल में प्रतिबिम्बित छाया की तरह युधिष्ठिर का अस्पष्ट रूप देखा। माथे का स्पर्श करती उसकी उंगलियों में हिम की शीतलता कैसे आयी।

"द्रौपदी !"

युधिष्ठिर का सम्बोधन ! उसके हृदय ने किसी दूरस्थ लोक से आती ध्वनि के समान सुना। धीरे। बहुत धीरे, सिर्फ हृदयों के सुनने योग्य धीमी आवाज़ में वह बुदबुदाई (बोली) :

"युधिष्ठिर, अब मैं सो जाऊँ।" □

(वयलार पुरस्कार प्राप्त कृति 'इनि ञान उरंड टूटे' का सार-संक्षेप)

जनता प्रशासन के दो वर्ष

चहुँमुखी विकास की दिशा में निश्चित कदम

हरिजनों और कमजोर वर्गों पर सबसे अधिक ध्यान

- पुनर्वास बस्तियों, शहरीकृत गांवों, अनधिकृत बस्तियों, कटरों तथा यमुना पार की 55% से भी अधिक आबादी को पहली बार जीवन की बुनियादी सुविधायें देना।
- हरिजन तथा पिछड़े वर्ग के कल्याण पर खर्च 1976-77 के 43 लाख रुपये से बढ़कर 104 लाख रुपये और पहली बार 37 हरिजनों को बसें खरीदने के लिए आर्थिक सहायता और बस का मालिक बनाना।
- 4465 मजदूरों को किराया-खरीद पर मकान देना।
- गांवों के विकास पर 26 करोड़ रुपये खर्च। एक वर्ष में हर गांव में पीने का पानी देने के लिए 11 करोड़ रुपये की योजना। पिछले 30 वर्षों में 25 गांवों को यह सुविधा मिल सकी। इसी प्रकार पहली बार गांवों का लाल डोरा बढ़ाया गया।
- दो लाख लोगों को काम में लगाने के लिए कई लघु उद्योगपुरियों की स्थापना। जिन घरों में कोई भी काम पर नहीं है उनमें कम से कम एक को काम देने की क्रांतिकारी योजना।
- दूर-दराज की कालोनियों और देहातों में द्वार पर चिकित्सा सुविधा की योजना के अन्तर्गत 500 बिस्तरों के 2 तथा 100-100 बिस्तरों वाले 7 अस्पतालों की स्थापना की योजना।
- ढाई लाख बच्चों को पोषक और मध्याहार। 72000 बच्चों को छात्रवृत्ति। हर गरीब बच्चे को मुफ्त वर्दी और किताबें। 16500 युवक-युवतियों को 16 संस्थानों में रोजगार की शिक्षा। केवल पात्रता के आधार पर प्रवेश। 100-100 आंगन बाड़ियों की सात योजनाओं के अन्तर्गत एक लाख बच्चों व माताओं को शिक्षा, पोषण तथा चिकित्सा सुविधाएं।
- पहली बार दिल्ली में एक वर्ष में 11000 मकान बने और इस वर्ष 20000 मकानों व 22000 सेवा एवं भूखण्डों के निर्माण की योजना। 80 प्रतिशत मकान अल्प-आय व आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के लिए।
- 5 वर्ष में 7·5 लाख वयस्कों को साक्षर बनाने की योजना।
- पूर्ण नशाबन्दी 31 मार्च 1980 तक।

आइए हम सब अपने देश की राजधानी को विश्व की सुन्दर और सुविधा-संपन्न राजधानियों में से एक बनाने के लिए संकल्प लें।

सूचना एवं प्रचार निदेशालय, दिल्ली प्रशासन द्वारा प्रसारित

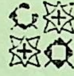
कीरति भनिति भूति भलि सोई
सुरसरि सम सब कहँ हित होई

—रामचरितमानस



हरितारा चैरिटेबिल ट्रस्ट

जम्मू



१५ अगस्त १९७९
भारतीय स्वतंत्रता की ३२ वीं वर्षगाँठ


कपास एकाधिकार योजना की सफलता


गरीबों को मुफ्त कानूनी सलाह


जीवनावश्यक वस्तुओं का उचित दाम पर वितरण


भूमिहीनों को घर


खेतिहर मजदूरों को निम्नतम वेतन


आदिवासियों के कृषि उत्पादनों की खरीदी



तरक्की की राह पर
महाराष्ट्र

सूचना व जनसंपर्क महासंचालनालय,
महाराष्ट्र शासन, बंबई द्वारा प्रकाशित

पहले भी सुन्दर
लगते थे



अब भी प्यारे
लगते हैं

हजारों वर्षों से एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी
बुनाई की कला सौंपती रही है। यू०पी०
हैण्डलूम कारीगरों की कला के ये सुन्दर
नमूने उचित दामों पर आपको उपलब्ध
कराता है।

आपकी पसन्द के हर तरह के कपड़े,
और मुनासिब दाम।

रंगबिरंगी और मनमोहक साड़ियां, आँ
खों को भा जाने वाले प्रिन्टेड ड्रेस मैटिरिय
रमणीय रेशमी व सूती बेड कवर, शान
फर्निशिंग, मुलायम और मजबूत तौलि
इनके अलावा चिकन कुर्ते, टेपेस्ट्रीज,
दरियां आदि।

हथकरघा और
कपड़ा निदेशालय
उत्तर प्रदेश
कानपुर
द्वारा प्रसारित

यू. पी. हैन्डलूम्स

राज्य सरकार का उपक्रम

यू० पी० हैण्डलूम के शोरूम इन जगहों पर हैं :

कानपुर, वाराणसी, नोतनवां, दिल्ली,
बंबई, कलकत्ता, धनबाद, चण्डीगढ़,
जयपुर, उदयपुर, लखनऊ, इलाहाबाद,
गाजियाबाद, बहराइच, बस्ती, जालौन
तथा गोरखपुर

बी-२५ सर्वोदय नगर, कानपुर-२०८००५

यूपीका शोरूम में भी मिलते हैं :

कानपुर, वाराणसी, मेरठ, फैज़ाबाद, रुड़की,
दिल्ली, लखनऊ, कलकत्ता, जयपुर, उदयपुर,
बम्बई, झांसी, इन्दौर, भोपाल, चण्डीगढ़,
श्रीनगर (जे. एण्ड के.), एटा, सीतापुर,
बिजनौर, देहरादून

हमें निर्भीकता का प्रतीक होना चाहिए । हमारे जीवन-कार्य ऐसे होने चाहिएं कि हम किसी से डरें नहीं । मित्र हों अथवा शत्रु, ज्ञेय हों अथवा अज्ञेय, हमें किसी से भयभीत नहीं होना चाहिए । दिन हो अथवा रात, हमें अभय रहना चाहिए । हर ओर हर किसी से हमें मित्रता रखनी चाहिए ।

—अथर्ववेद ।



भोपाल

में

युवक सदन

ठहरने की एक स्वच्छ एवं किफायती सुविधा

दर: 6 रुपये प्रति पलंग

3 रुपये प्रति पलंग

(यूथ हास्टल एसोसियेशन आफ इण्डिया के सदस्यों के लिए)

सम्पर्क :

वार्डन

यूथ हास्टल

45, बंगला, टी० टी० नगर

फोन: 63671

पचमढ़ी

पुष्पों और प्रपातों का पर्वतीय बसेरा

- भयंकर भीड़ में कहीं दूर—शांति और नीरवता की ओर
- जहाँ प्रकृति आज भी निर्मल और पवित्र है।
- अलौकिक सौन्दर्य—सुहानी धूप और वन पुष्पों की सुरभि से महकती हवा
- शैल-शिखरों के बीच दिव्य जल प्रपातों का अद्वितीय सिलसिला
- पचमढ़ी के चौंसठ दर्शनीय स्थलों, गुफाओं, मंदिरों, पर्वत-शिखरों, जल-प्रपातों, तरण पुष्करों और छाँह-भरे आरामगाहों की सैर करें, या रंगा-रंग मैदानों, घाटियों और कन्दराओं में घूम-फिरकर स्वास्थ्य-लाभ करें या फिर सिर्फ कुछ न करें—और वह भी पचमढ़ी के अब तक अनजाने सुन्दर पर्वत शिखर पर।

विस्तृत जानकारी के लिए संपर्क करें—

पर्यटन संचालनालय
मध्यप्रदेश, भोपाल

सू० प्र० सं० 2698/79

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय

(शिक्षा तथा समाज कल्याण मन्त्रालय के प्रकाशन)

1. **विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तकें** :

हिन्दी माध्यम से यह पुस्तकें प्रसिद्ध विद्वानों तथा हिन्दी ग्रन्थ अकादमियों के सहयोग से तैयार की गई हैं। स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर की विज्ञान, मानविकी तथा समाज विज्ञान के सभी विषयों पर 1100 से अधिक पुस्तकें उपलब्ध हैं।

2. **तकनीक शब्दावलियां** :

विज्ञान, मानविकी, समाज विज्ञान, कृषि, इंजीनियरी, आयुर्विज्ञान तथा भेषजी आदि सभी विषयों से सम्बन्धित अलग-अलग तकनीक शब्दावलियां उपलब्ध हैं।

विज्ञान, आयुर्विज्ञान और मानविकी विषयों के समेकित वृहद् पारिभाषिक शब्द संग्रह भी उपलब्ध हैं।

1. वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह विज्ञान खंड-1 (ए से के तक) मूल्य 17-25 रु०
2. वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह विज्ञान खंड-2 (एल से जैड तक) मूल्य 17-25 रु०
3. वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह मानविकी खंड-1 (ए से के तक) मूल्य 16-25 रु०
4. वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह मानविकी खंड-2 (एल से जैड तक) मूल्य 16-25 रु०
5. वृहत पारिभाषिक शब्द संग्रह आयुर्विज्ञान मूल्य 25-00 रु०

3. **परिभाषा कोश** :

विज्ञान, मानविकी, समाज विज्ञान आदि विषयों के निम्न परिभाषा कोश भी उपलब्ध हैं। अध्यापकों, विद्यार्थियों, लेखकों आदि के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी हैं।

1. भौतिकी पारिभाषिक कोश 4-80 2. रसायन पारिभाषिक कोश 3-25 3. वनस्पति पारिभाषिक कोश 2-25 4. मनोविज्ञान पारिभाषिक कोश 9-50 5. आधुनिक भौतिकी का विस्तृत पारिभाषिक कोश 6. गणित पारिभाषिक कोश खंड I और II मू० 18-75 7. प्राणि विज्ञान परिभाषा कोश 10-00 8. भूगोल परिभाषा कोश 10-00 9. गृह विज्ञान परिभाषा कोश 8-00 10. भूविज्ञान परिभाषा कोश 10-00

इनके अतिरिक्त हिन्दी-अंग्रेजी कोश, द्विभाषिक वार्तालाप पुस्तिका (हिन्दी-अंग्रेजी), बेसिक हिन्दी ग्रामर, हिन्दी तमिल स्वयं-शिक्षक, हिन्दी तेलुगु स्वयं-शिक्षक, हिन्दी लिंग्वा रिकार्ड भी उपलब्ध हैं।

4. **पत्रिकाएं तथा चयनिकाएं** :

भाषा, यूनेस्को दूत, शिल्पीमित्र, आयुर्विज्ञान, चिकित्सा सेवा पत्रिकाएं तथा गृह विज्ञान चयनिका, मानव विज्ञान चयनिका, भौतिकी चयनिका, राजनीति विज्ञान चयनिका तथा बीजक-वाणिज्य-चयनिका-1 भी उपलब्ध हैं।

अध्यापकों, छात्रों तथा सार्वजनिक पुस्तकालयों तथा पुस्तक-विक्रेताओं आदि को उचित कमीशन दिया जाता है। कृपया निम्नलिखित पते पर पत्र-व्यवहार करें।

'सहायक निदेशक (बिक्री)'
केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
पश्चिमी खंड 7, रामकृष्णपुरम
नई दिल्ली-110022

New India Mining Corporation Private Limited

Pioneers of Iron Ore Mining and
Exports in Konkan Area of
Maharashtra State
(India)

Mines At :
Redi
Post Office : **Redi**
Distt. : **Ratnagiri**
(Maharashtra State)
Cable : NIMCO

Registered Office :
ATLANTA
First Floor,
Nariman Point
Bombay-400021
Cable : MININGKING

साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित

पाश्चात्य साहित्य के अमर रत्न

1. राख और हीरे

(पोलिश उपन्यास 'पोपिओल इ दियामेन्त') येर्जी आन्द्रजेयेव्स्की के इस उपन्यास को
समसामयिक पोलिश साहित्य में एक कालजयी कृति का गौरव प्राप्त है। यह असंदिग्ध रूप से
कहा जा सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के पोलैंड तथा यूरोप के साहित्य से सम्बन्धित
कोई भी परिकल्पना 'राख और हीरे' के बिना अधूरी ही रहेगी। अनुवादक: रघुवीर सहाय।
पृष्ठ 252 (1978)। मूल्य 18.00।

2. सात युगोस्लाव कहानियाँ

युगोस्लाविया की वीर जनता ने जिस प्रकार हिटलर की ताकत से लोहा लिया, वर्णना-
तीत कष्ट झेले और फिर राष्ट्रों की बिरादरी में सम्मानपूर्ण स्थान पाया, वह सबकी सराहना
का विषय रहा है। इन कहानियों में मृत्यु के साथ खेलने को तत्पर और जीवन से अटूट प्यार
करने वाले इन जनों की निष्ठा और लगन का मार्मिक प्रतिबिम्ब मिलता है। पृष्ठ 68, द्वितीय
संस्करण (1967)। मूल्य 2.50।

3. झोंपड़ी वाले और अन्य कहानियाँ

आधुनिक रूमानियायी साहित्य में मिहाइल सादोवेनू का वही स्थान है जो हिन्दी में
प्रेमचन्द का है। उनकी रचनाएं सच्चे अर्थों में रूमानिया के जन-जीवन की प्रतिनिधि हैं। इस
पुस्तक में लघु उपन्यास 'झोंपड़ी वाले' के अतिरिक्त उनकी तीन कहानियां भी सम्मिलित हैं।
अनुवादक : निर्मल वर्मा। पृष्ठ 164, तृतीय संस्करण (1976)। मूल्य 7.00।

4. आर० यू० आर०

(चेक नाटक) : लेखक : कारेल चापेक---चेकोस्लोवाकिया के विख्यात नाटककार।
लेखक की इस सर्वोत्तम कृति आर० यू० आर० अर्थात् 'रोसुम्स युनिवर्सल रोबोज' में अतियन्त्री-
करण पर व्यंग्य किया गया है। 1921 में खेले गये इस नाटक में 'रोबोट' नामक एक नया शब्द
प्रयुक्त किया गया जो कि आज भी प्रचलित है। अनुवादक : निर्मल वर्मा। पृष्ठ 104,
(1972)। मूल्य 4.00।

5. बारह हंगारी कहानियाँ

चुनी हुई हंगारी कहानियों का संग्रह, जो कि हंगरी के कथा-साहित्य की विविधता
और रंगीनी का प्रभावोत्पादक परिचय देता है। यूरोप के साहित्यिक वैभव में हंगरी का योग-
दान अत्यन्त विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है। अनुवादक : भारत भूषण अग्रवाल तथा रघुवीर
सहाय। पृष्ठ 200, (1974) मूल्य 10.00।



प्राप्ति स्थान

साहित्य अकादेमी

रवीन्द्र भवन, 35, फीरोजशाह रोड,

नई दिल्ली-110001

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा

(शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार)

केंद्रीय हिन्दी संस्थान, भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा सन् 1961 में स्थापित एक अखिल भारतीय शैक्षिक पीठ है, जिसका संचालन केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मण्डल नामक स्वायत्त संस्था करती है।

संस्थान हिन्दी भाषा तथा साहित्य में उच्च अध्ययन और अनुसंधान के अतिरिक्त भारतीयों/विदेशियों के लिए द्वितीय भाषा/विदेशी भाषा के रूप में हिन्दी सिखाने और उसका प्रशिक्षण देने के उद्देश्य से भाषा तथा साहित्य के लगभग दो दर्जन पाठ्यक्रम संचालित करता है। इनके अतिरिक्त सरकारी अधिकारियों और बैंक कर्मचारियों आदि के लिए हिन्दी सेवा माध्यम पाठ्यक्रम भी संस्थान द्वारा चलाए जाते हैं।

संस्थान विभिन्न स्तरों पर हिन्दी सीखने-सिखाने को पाठ्य एवं सहायक पुस्तकों के साथ-साथ हिन्दी भाषा शिक्षण और साहित्य से सम्बन्धित उच्चस्तरीय अनुसंधान ग्रन्थों और शोध पत्रिका गवेषणा का प्रकाशन भी करता है। साथ ही हिन्दी उच्चारण और कविता पाठ पर टेपबद्ध सामग्री और ग्रामोफोन डिस्क भी संस्थान ने तैयार किए हैं।

आज संस्थान हिन्दी के महत्त्वपूर्ण अध्ययन-अध्यापन, मूलभूत अनुसंधान तथा मुख्य रूप से अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान और भाषाशिक्षण का राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मान्यताप्राप्त उच्च अध्ययन केन्द्र बन चुका है। संस्थान का मुख्यालय आगरा में है तथा इसके तीन केन्द्र—दिल्ली, हैदराबाद और शिलांग में कार्य कर रहे हैं।

संस्थान के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

अनुसंधानपरक पुस्तकें

हिन्दी का भाषावैज्ञानिक व्याकरण		रु० 35.00
भाषा शिक्षण तथा भाषाविज्ञान		रु० 28.50
हिन्दी साहित्य की अधुनातन प्रवृत्तियाँ		रु० 2.00
हिन्दी और तमिल की समान स्रोतीय भिन्नार्थी शब्दावली		रु० 6.00
तेलुगु और हिन्दी ध्वनियों का तुलनात्मक अध्ययन		रु० 4.00
हिन्दी के अव्यय वाक्यांश		रु० 6.00
समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता		रु० 6.00
हिन्दी और मणिपुरी परसर्गों का तुलनात्मक अध्ययन		रु० 6.00
हिन्दी रूपांतरण व्याकरण के कुछ प्रकरण		रु० 10.00
हिन्दी का कारक व्याकरण		रु० 10.00
भाषाविज्ञान की अधुनातन प्रवृत्तियाँ और द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी भाषाशिक्षण		रु० 6.00
भाषा सम्प्राप्ति मूल्यांकन		रु० 6.00
प्रयोजनमूलक हिन्दी (संक्षिप्त प्रतिवेदन)		रु० 2.00
Functional Hindi		रु० 2.00
साहित्य में बाह्य प्रभाव	सजिल्द	रु० 15.00
	अजिल्द	रु० 10.00
उर्दू हिन्दी परिचय कोश		रु० 10.00
समान स्रोत और भिन्न वर्तनी की शब्दावली ओड़िया-हिन्दी : हिन्दी-ओड़िया		रु० 6.00
प्रयोजनमूलक हिन्दी		रु० 10.00
पाणिनि व्याकरण में प्रजनक प्रविधियाँ		रु० 5.50
शैली और शैलीविज्ञान		रु० 18.50
हिन्दी का सामाजिक संदर्भ	सजिल्द	रु० 20.00
	अजिल्द	रु० 16.00
देवनागरी लेखन तथा हिन्दी वर्तनी व्यवस्था		रु० 8.00

समानस्रोत और भिन्न वर्तनी की शब्दावली :

असमिया-हिन्दी : हिन्दी-असमिया — रु० 7.00

भारतीय जीवन और संस्कृति — रु० 12.00

Indian Bilingualism — 6.00

H. B. Rs. 35.00 $ 17.50 P. B. Rs. 30.00 $ 15.00

Hindi Script (Self Instructional Material) Rs. 7.50 $ 3.00

Proceedings of the Fourth All India Conference of Linguists Rs. 40.00 $ 20.00

हिन्दी शब्दावली प्रयोग और अभ्यास-1 — रु० 16.00

हिन्दी शब्दावली प्रयोग और अभ्यास-2 — रु० 19.00

पाठ्य पुस्तकें

स्कूलों की प्रारंभिक कक्षाओं के लिए

हिन्दी की पहली पुस्तक — रु० 2.25

हिन्दी की दूसरी पुस्तक — रु० 3.25

हिन्दी की तीसरी पुस्तक — रु० 3.25

उपरोक्त पुस्तकों पर आधारित

अभ्यास पुस्तिका भाग-1 — रु० 2.20

अभ्यास पुस्तिका भाग-2 — रु० 2.40

अभ्यास पुस्तिका भाग-3 — रु० 2.30

हिन्दी लिपि भाग-1 — रु० 1.50

हिन्दी लिपि भाग-2 — रु० 1.50

हिन्दी लिपि भाग-3 — रु० 1.50

राजभाषा विभाग : हिन्दी शिक्षण योजना

हिन्दी पाठमाला-1 — रु० 7.50

अभ्यास पुस्तिका-1 — रु० 6.50

उच्चारण पुस्तिका-1 — रु० 8.00

लेखन बोधन पुस्तिका-1 — रु० 6.50

हिन्दी पाठमाला-2 — रु० 11.75

अभ्यास पुस्तिका-2 — रु० 12.25

उच्चारण पुस्तिका-2 — रु० 7.00

लेखन बोधन पुस्तिका-2 — रु० 17.00

कालेज स्तर के छात्रों के लिए

आधुनिक निबंध संग्रह — रु० 3.75

हिन्दी काव्य संग्रह — रु० 7.50

आधुनिक एकांकी संग्रह — रु० 13.25

गवेषणा (अर्द्धवार्षिक अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान तथा भाषा शिक्षण की शोध पत्रिका)

1. अंक 1 से 8 तक — प्रति अंक 4.00
2. अंक 9-10 से 11-12 (अप्राप्य) — प्रति अंक 8.00
3. अंक 13 से 32 तक — प्रति अंक 4.00
4. 'गवेषणा' की एक प्रति का मूल्य रु० 4.00 और वार्षिक शुल्क रु० 8.00 है।

निःशुल्क सूचीपत्र और अन्य जानकारी के लिए लिखें या संपर्क करें

प्रकाशन प्रबंधक

केंद्रीय हिन्दी संस्थान

आगरा-282005

रूपक प्रिंटर्स, दिल्ली-32 में मुद्रित